जब हम ज्ञान प्रकाश न पाते। पथ में चलते गिर गिर जाते
अन्धकार में रत्न समझ कर, कंकड़ पत्थर ही चुनते हैं
मूल्य न मिलता जब उनका कुछ, तब हम अपना सिर धुनते हैं
काल कर्म को दोष लगाते। जब हम ज्ञान प्रकाश न पाते

मिले हुये घर धन स्वजनों को, बिना विचारे अपना कह कर
भोग जनित सुख के पीछे ही, जीवन में कितने दुःख सह कर
लोभ मोह अभिमान बढ़ाते। जब हम ज्ञान प्रकाश न पाते

अविनाशी अपना जीवन है, हम कहते हैं, मरना हमको
देख न पाते अपने सन्मुख, जो कुछ भी है करना हमको
यद्यपि गुरुजन हैं समझाते। जब हम ज्ञान प्रकाश न पाते

सुख में हम सेवा कर सकते, पर बन जाते उसके भोगी
दुख में त्याग और तप द्वारा, हो सकते हैं सुन्दर योगी
किन्तु समय खो कर पछताते। जब हम ज्ञान प्रकाश न पाते

निज स्वरूप को जान न करके, मुग्ध हुये नश्वर काया में
मैं, मेरी, कह कह कर नटवत, नाच रहे हरि की माया में
अनजाने ही कष्ट उठाते। जब हम ज्ञान प्रकाश न पाते

जो अज्ञान विनाशक है वह, ज्ञान स्वरूप हमारा गुरु है
जिससे हमको गुरुता मिलती, अन्तिम यही सहारा गुरु है
वहीं पथिक हम ठोकर खाते। जब हम ज्ञान प्रकाश न पाते

प्रकाश में

लेखक

साधु वेष में एक पथिक

प्रकाशक

पथिक सेवा संघ,

सीतापुर

प्रथमावृत्ति ८०००]　　संम्वत् २०११　　[मूल्य ।=)
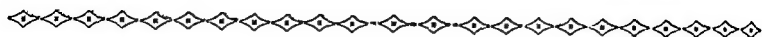
जग में सतसंग बिना मानव सन्मति गति पाना क्या जाने ॥
आसुरी प्रकृति के जो प्राणी सत्संग में आना क्या जाने ॥

जीवन में जितने दुख दिखते वह निज दोषों के कारण ही।
पर जिसमें इतना ज्ञान न हो वह दोष मिटाना क्या जाने ॥

उन्नति का साधन सेवा है इससे ही आत्म शुद्धि होती।
पर लोभी मोही अभिमानी सेवक पद पाना क्या जाने ॥

गांजा अफीम या भंग चरस बीड़ी सिगरट पीने वाले।
व्यसनों को जो न छोड़ पाते मन वश में लाना क्या जाने ॥

जिनके उर में होता रहता है आगे पीछे का चिन्तन।
वह प्रेम योग बिन परमेश्वर में ध्यान लगाना क्या जाने ॥

जो पहुँचे हुए सन्त जन है उनसे पूंछो पथ की वातें।
जो बारह बाट बीच में हैं वह लक्ष्य दिखाना क्या जाने ॥

दुख में जो त्यागी हो न सके बन सके न सुख में जो उदार।
वह पथिक साधना मय जीवन को सफल बनाना क्या जाने ॥

विषय-सूची

[गद्य]

[पद्य]

१---जब हम ज्ञान प्रकाश न पाते । पथ में चलते

२---जग में सत्संग बिना मानव सन्मति गति पाना

३---जिस शक्तिमान में दोष न हो

४---प्रियतम का तब पाना कठिन है

५---वही मानव शान्ति जग में पा रहे हैं

६---भूल न जाना तुम जिससे सब कुछ पाते

७---संसार में मानव वही सत् धर्म जो अपना सके

८---इस जगत से जाने वाले मानों कहते जा रहे हैं

९---सोचो तो सज्जनों यहाँ स्वाधीन शान्ति पाते न क्यो

१०---सुन लो हम यही बताते हैं । तुम किधर हम किधर

११---अब से शुभ करना सीख लो । दोषों से डरना

१२---हम तुम क्या, कितने महारथी इस जग में

१३---अरे मित्र तुमने अभी तक किया क्या

१४---जग में पशु भी खाते सोते, स्वार्थ-पूर्ति में सकुशल ह

१५---जिससे कोई भी भूल न हो, भगवान यही है

१६---प्रेमियो अब कदम बढ़ाओ तो

१७---यह सदगुरु दरबार है, सबको मिलता प्यार है

१८---मानव ! प्रभु गुण गाते न क्यों तुम

151

आस्तिक और नास्तिक में अन्तर

गुरु ज्ञान प्रकाश में हम आस्तिक और नास्तिक का कुछ और ही अन्तर देख रहे हैं।

कोई भी बुद्धिमान् मानव शास्त्रके शब्दों का वास्तविक अर्थ तथा उसके साथ रहनेवाले भाव और भावके अभ्यन्तर रहनेवाले रहस्यको जबतक नहीं समझ लेता है, तबतक उन शब्दोंके सहारे सत्यतक न पहुँचकर असत्यमें ही भ्रमित रहता है। आजके मानव-समाजमें जिस प्रकार त्याग, तप, ज्ञान, प्रेम और भक्ति आदि शब्दोंका बहुत ही संकुचित अर्थमें प्रयोग किया जा रहा है उसी प्रकार आस्तिक शब्दका भी संकीर्ण ही अर्थ प्रचलित है। प्रायः लोग आस्तिक उसको कहते हैं जो परमेश्वरको मानता है। और न माननेवाला नास्तिक कहलाता है। जब ईश्वरके माननेवाले आस्तिकों और न माननेवाले नास्तिकोंके जीवनकी गतिविधिपर दृष्टिपात किया जाता है तो दोनों एक दिशा में चलते हुए लोभी, मोही, अभिमानी, कामी, क्रोधी, भयातुर, दुखी और शोक-विलापसे ग्रस्त दीख पड़ते हैं। कहीं-कहीं तो परमेश्वरको माननेवाले इस प्रकारके आस्तिकों की अपेक्षा नास्तिक अधिक श्रमी, संयमी, सदाचारी, कर्तव्य-परायण, दयालु, उदार और दानी दीख पड़ते हैं और आस्तिक आलसी, असंयमी, दुराचारी, कर्तव्यविमुख, कठोर और कृपण सिद्ध होते हैं।

विचार यह करना है कि वास्तवमें आस्तिक कौन है? केवल सत्यके माननेवालेको आस्तिक किस प्रकार कहा जाय? माना वह जाता है जो वर्तमान कालमें नहीं है; तो सत्य भी क्या कहीं नहीं है? यदि सत्य सर्वकालमें है तो माना क्यों जाय? सत्य तो जानने

संयोगकी दासताका त्यागकर वियोगका अन्त योगमें देखता
नास्तिक बार-बार सुखका अन्त दुःखमें देखता रहता है; आस्ति
सत्यका ज्ञान प्राप्त कर दुःखका अन्त नित्य आनन्दमें देखता
नास्तिक बार-बार जीवनका अन्त मृत्युमें देखता है, पर आस्ति
नित्य जीवनको जानकर मृत्युका अन्त मुक्तिमें देखता है। सर्वाध
महान्—परम तत्त्व परमात्माका योगी आस्तिक है; जगत्‌के परिवर्तनशी
विनाशी नाम-रूपका संयोगी नास्तिक है।

विवेचन

जिस शक्तिमान में दोष न हो, भगवान उसे ही कहते हैं।
जो परम मधुर ऐश्वर्य निधान, महान उसे ही कहते हैं॥

दोष हों जिसे दीखते न हों, वह मानव आकृति में पशु है।
जो निज में दोष न रहने दे, विद्वान उसे ही कहते हैं॥

निबलों के काम आ सके जो, जग में सच्चा बलवान् वही।
जब धन की चाह न रह जाये, धनवान उसे ही कहते हैं॥

जो जग में मिले हुए तन धन या जन को अपना मान रहा।
बढ़ता है जिससे लोभ मोह अज्ञान उसे ही कहते हैं॥

है श्रेष्ठ वही नर जो परहित में ही अपना हित देख रहा।
जो सुन्दर जीवन बना सके, श्री मान उसे ही कहते हैं॥

जिस सुखासक्ति के कारण ही सारे दोषों का जन्म हुआ।
जो पथिक त्याग कर सके इसे, धी मान उसे ही कहते हैं॥

संत के सङ्ग की महिमा

ज्ञान प्रकाश में हमें सन्त संग का महत्व विदित हुआ।

संसार में यदि किसी को बन्धनों से—दुःखों से मुक्त रहना ही तो सर्वोपरि एक ही उपाय है कि वह किसी का भी सङ्ग न करे। सर्वसाधारण जन सङ्गजनित बन्धनों से सर्वत्र बद्ध दीखते हैं; इस प्रकार के बन्धनों से मुक्त होने का उपाय सर्वसङ्गमुक्त संतकी सुसङ्ग प्राप्ति है। वह जीव बहुत सुन्दर—भाग्यवान् है जो अल्पावस्था में ही बुद्धि जाग्रत् होने के साथ—कुछ भी सुनने-समझने के साथ संतका सुसङ्गी हो जाता है। वे नर-नारी बहुत पुण्यशील हैं जो गृहस्थी में प्रवेश करने के पहले ही, संतकी सुसङ्गति में उससे निकलने और पाप से बचनेका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। जीवनमें गति तथा सद्गति अन्य साधनोंसे होती है, पर परमगति तो संतके सुसङ्गसे ही सुलभ है। जो पुरुष अपने जीवनको तथा जो कुछ भी जीवनमें प्राप्त है उसको सार्थक करना चाहता है, उसे विरक्त ज्ञानी गुरुजनका श्रद्धापूर्वक मानरहित होकर सुसङ्ग करना चाहिये। ऐसा करनेसे परम गति - परम शान्ति मिलती है।

परम पावन ज्ञानस्वरूप संत सद्गुरुका दर्शन बाहरी नेत्रोंसे नहीं होता। इसके लिये श्रद्धाकी दृष्टि चाहिये। जितनी ही शुद्ध एवं सात्विक श्रद्धा होगी, उतना ही प्रगाढ़ तथा निकट सम्बन्ध होगा। पूर्ण श्रद्धालु ही संत सद्गुरुकी आज्ञाके पालनमें तत्पर रह सकता है। पूर्ण श्रद्धा ही गुरुमुखता है, इसकी प्रतिकूलता मनमुखता है। जिस गृहस्थको विरक्त संतका सङ्ग सुलभ नहीं है, जिस गृहस्थके घरमें संतकी चरणधूलि नहीं पड़ती है, वह ज्ञानीकी दृष्टिमें पुण्य-

कठिन क्यों

प्रियतम का तब पाना कठिन है।
जब अभिमान मिटाना कठिन है॥

जिसको जीवन में दुखदाई दोषों का ही त्याग न होता।
उसके उर में प्रियतम के प्रति काम शून्य अनुराग न होता।
तब तो ध्यान लगाना कठिन है॥ प्रितयम का०।

मोग जनित सुख की आशा से बँधे हुए हैं प्राणी जग में
सद्विवेक बिन देख न पाते कष्ट उठाते हैं पग पग में
उन सब को समझाना कठिन है॥ प्रियतम का०

जहाँ चैन आती रहती है, समझो सच्ची चाह नहीं है
सच्ची चाह हुए बिन मिलती सत्य प्रेम की राह नहीं है।
प्रीति को पूर्ण बनाना कठिन है॥ प्रियतम का०॥

जो आस्तिक प्रेमी कहला कर चिन्ता करता है तन धन की।
जो स्वामी का सेवक होकर पूर्ति चाहता अपने मन की।
पथिक सुपथ में आना कठिन है॥ प्रियतम का०॥

गुरु तत्व का रहस्य

गुरु ज्ञान प्रकाश में हमें गुरु तत्व का रहस्य विदित हो सका।

किसी शब्दका अर्थ तो बालक भी रट लेते हैं पर उसका भाव
ारशील मानव ही समझ पाते हैं और भावगत-रहस्यकी अनुभूति
मदर्शी बुद्धिमानोंको ही होती है।

गुरु शब्दका भावार्थ बड़ी सरलतासे तब समझमें आता है जब
ु शब्दके अर्थका ध्यान रहता है। गुरु वह है जिसमें लघुता नहीं
ती। जो किसीके द्वारा नहीं हिलता है—जिसे संसारके सुख-
गकी कामनाएँ चञ्चल नहीं कर पाती हैं और जो सुखद-सुन्दर
तुपर विमुग्ध—लुब्ध नहीं होता है, वही गुरु है।

गुरु ज्ञानस्वरूप है। किसी गुरुमें देहभाव अथवा देहमें गुरुभावकी
तेष्ठा करना सत्यकी ओटमें असत्यकी उपासना है। अपने ज्ञान-
रूपसे भगवान् ही परम गुरु हैं। वे ही दुखी प्राणियोंके कल्याणके
ये शुद्ध तथा निर्मल—पवित्र अन्तःकरणवाले व्यक्तियोंमें अपना
नस्वरूप प्रकाशित—अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकारके व्यक्तियोंको
नव-समाज महापुरुष, महात्मा और संत, आदि नामसे समलंकृत
ता है। यदि किसी संत, महात्मा, महापुरुष नामवाले व्यक्तिसे
ज्ञान—दिव्यगुण अलग करके देखा जाय तो वह कदापि श्रद्धेय,
य और माननीय न रह जायगा। इससे यह सिद्ध होता है कि
कृति—व्यक्ति पूज्य, सेव्य और उपास्य नहीं है; उसमें दैवीगुण
ा ज्ञानकी पूर्णता ही उपास्य, सेव्य और पूज्य है। दैवीगुण—पूर्णज्ञान
थवा निष्काम प्रेमकी उपासना—आराधना ही वास्तविक गुरुकी
ासना-आराधना है।

गुरुप्रदत्त सम्पत्तिका ग्रहण होता है। श्रद्धायुक्त प्रीतिसे गुरु-स
रक्षा होती है। श्रद्धायुक्त त्यागसे गुरुके प्रति प्रगाढ़ प्रीति हो
और श्रद्धायुक्त तप-संयमसे गुरुके पथमें प्रगति होती है।……
परमानन्द परमात्मासे संयुक्त करता है। गुरु-भक्ति लघुता की
—बन्धनसे मुक्त कर देती है।

वही मानव शान्ति जग में पा रहे हैं।
जो सतत् गुरु ज्ञान को अपना रहे हैं॥
भोग सुख का अन्त दुख है किन्तु फिर भी।
जिसे देखो उधर ही ललचा रहे हैं॥
देखते न वियोग को संयोग में जो।
कभी रोयेंगे अभी जो गा रहे हैं॥
जिन्हें जीवन में न दिखती मृत्यु निश्चित।
वही जीवन व्यर्थ खोते आ रहे हैं॥
जगत दृश्य जिन्हें असत्य न दीखता है।
वही बन्धन मोह व्याधि बढ़ा रहे हैं॥
देह को ही रूप अपना मानते जो।
वही जीव विनाश पथ में जा रहे हैं॥
जो कि अपना सत्स्वरूप न जानते हैं।
वही चिन्तित भयातुर घबरा रहे हैं॥
जिस तरह से मुक्ति मिल सकती दुखों से।
पथिक को गुरु जन यही समझा रहे हैं॥

मैं कौन हूँ ? मेरा क्या है ?

श्लोकार्धेन तु वक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभिः ।
ममेति परमं दुःखं निर्ममेति परं सुखं ॥ (शिवपुराण)

ोड़ों ग्रन्थों में जो कहा है वह मैं आधे श्लोक में कहता हूँ, ममता परम दुःख है, ममता रहित होने में ही परम सुख है ।'

चाहे हरि मिलन कूं मैं मेरी, को छोड़ । मैं मेरी, को गाड़कै बहुत भये हैं भाँड ॥'
मैं बड़ी बलाय है सको तो निक सौभागि । कह कबीर कैसे रहे रुई लपेटी आगि ॥'

जब हम अपने से भिन्न 'यह' के रूप में जगत देखते हैं तभी का भान होता है पुनः जब जगत की किसी भी वस्तु से सम्बन्ध ड़कर मैं और मेरी कहने लग जाते हैं तभी मैं का आकार बनने से कार हो जाता है, इसके आगे अपने को श्रेष्ठ और दूसरे को हीन क्र मानने से अभिमान का जन्म होता है ।

अभिमान के मुख्य सात आधार होते हैं । १ विद्या, २ कुल, ३ रूप, ान, ५ बल, ६ अधिकार, ७ तप ।

जब तक हम लोग संसार के वैभव, ऐश्वर्य, बाह्य सौन्दर्य की ाता पर विश्वास करते हैं तब तक अहंकार अभिमान की संकीर्णता ाहीं छूट सकते ।

अहंकार अभिमान का आधार संसार की विनाशी वस्तुओं से नी एकता स्थापित करना है । जो अपनी नहीं हैं उनके साथ ाकर 'मैं, मेरी' मानना ही एकता है ।

जितना अहंकार अभिमान प्रबल होता है उतने ही अधिक दुःख ो हैं । यह सीमित अहंकार अभिमान ही सत्य विमुख और संसार सन्मुख रख कर रागी तथा द्वेषी बनाता है ।

होता। सब कुछ अपनी वासना पूर्ति के लिये मिला हुआ दीखत
अभिमान नहीं रहता। आस्तिक जीवन में अभिमान नहीं रहत

किसी भी साधन से यदि हममें गुण का अथवा संग का अ
न रहे और किसी दोष के लिये अपने में स्थान न रहे वह
श्रेष्ठ साधन है। चाहे वह नामजप हो या गुण कीर्तन हो या प
या ध्यानाभ्यास हो या सेवा हो, साधना करते हुए यदि हम
दोष जनित अभिमान से मुक्त न हुए तो निर्दोष तत्व के योग
हो सकते।

आज तक अभिमान के रहते किसी को न परमानन्द परमा
योग मिला, न मोक्ष मिला। हम सहस्रों अभिमानी किसी न
व्यक्ति के पूजने और अपने पुजवाने में ही रस लेते रहते हैं।

हम सबको एक रहस्यपूर्ण बात समझ लेनी है, वह यही
अभिमान का त्याग हम तब तक नहीं कर सकते जब तक स
महान को न देखने लग जाँय। हम सब के भीतर जो मान की
है उसका अभिप्राय यही है कि हम सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करना
हैं और भूल यही है कि अज्ञानवश लघु की, विनाशी की, जड़
की शरण लेते हैं।

हम सबको चाहिए कि सर्व श्रेष्ठ होने के लिये जो संसार में
से श्रेष्ठ है, महान है उसकी ओर देखें उसी का संग करें। सर्व
वही है जिसमें कोई दोष न हो हम सर्वोपरि श्रेष्ठ निर्दोष
संगोपासना से ही दोष मुक्त हो सकते हैं।

यदि दोष के संग से हम दोषी बने हैं तो निर्दोष के संग
निर्दोष हो सकते हैं। हमारे आगे यदि दोष युक्त देह है, विषय वि
हैं, क्षण स्थाई सुख हैं, परिवर्तन शील दृश्य हैं तो हमारे पीछे नि
तत्व चिन्मय आत्मा है, वह निर्विकार है उसमें स्थाई आनन्द है,
एक रस है। जिस प्रकार हम विनाशी देह के संगाभिमानी हो
सीमित अपूर्ण जीवन के विकास ह्रास विनाश से चञ्चल अभि-

ान्त भ्रमित हो रहे हैं उसी प्रकार हम अविनाशी आत्मा के ाभिमानी होकर असीम पूर्ण नित्य जीवन को प्राप्तकर जन्म- ृ्यु के बन्धन से मुक्त शान्त होकर अनेकता में व्याप्त एकता का ुभव कर परमानन्द से पूर्ण हो सकते हैं।

अब हमें अपने को विनाशी वस्तुओं के संग से अर्थात् मैं को य के संग से हटाकर अविनाशी तत्व से नित्य संयुक्त देखना है।

हम जिस असत्य के सन्मुख हैं उससे विमुख होना है और जिस श्वत सत्य से विमुख हैं उसके सन्मुख होना है।

दृश्य के साथ मैपन ही अशुद्ध दुख कारी अभिमान है।

दृश्य के साथ मेरापन ही दुखद राग है।

दृश्य से मैं को हटा लेना ही सच्चा त्याग है।

दृश्य के प्रकाशक में मैं को जोड़ देना ही सत्यानुराग है। जो कुछ खता है उन देहादि वस्तुओं से अभेद सम्बन्ध ही बन्धन है। सके विपरीत सत्य आत्मा से अभेद सम्बन्ध अनुभव करने पर ही न्धन से मुक्ति मिलती है।

असत्य से, सीमित से, जड़ से, परतन्त्र वस्तु से मैं को अलग र लेना है, सत्य से, असीम से, चेतन से, स्वतन्त्र से मैं को जोड़ देना यही असत् से सत की ओर सीमित से असीम की ओर जड़ से ेतन की ओर, अर्थात् देह से आत्मा की ओर, परतन्त्र से स्वतंत्रता की ोर, दुख से आनन्द की ओर, बन्धन से मुक्ति की ओर 'मैं' को अर्थात पने को मोड़ देना है।

शरीर को 'मैं या मेरा' मान लेने से ही हम पर संसार का प्रभाव ड़ता है। शरीर को 'मैं या मेरा' कहते हुए हम दुख सुख के बन्धन े नहीं बच सकते—यह हम गुरु ज्ञान द्वारा समझ रहे हैं।

'नारायण संसार में भूपति भये अनेक।
मैं मेरी करि मरि गए लै न गए तृण एक ॥'

दर्शन

भूल न जाना तुम जिससे सब कुछ पाते, भगवान वही है।
उससे विमुख बना देता जो मानव को अभिमान वही है॥

त्यागी वह जो अहंकार के सहित वासना को तज देवे।
भय चिन्ता मिट जाये जिससे, आस्तिक का सद ज्ञान वही है॥

प्रभु के नाते सेवा करना, कुछ न मागंना, यही समर्पण।
कुछ भी पाकर, जो न कभी भूलता हृदय से, ध्यान वही है॥

जो दुख से गम्भीर शान्त है सहनशील है, वही तपस्वी।
जो न किसी को दीन बनाये, सदगति दाता दान वही है॥

जो धन चाहे वह निर्धन है, मान चाहता है अभिमानी।
पथिक जो न कुछ चाहे जग से, वन्धन मुक्त महान वही है॥

कर्तव्य

गुरु ज्ञान प्रकाश में हमें कर्तव्य का भी विशेष दर्शन हो रहा है।

हम लोग कभी कभी गुरुजनों से जब त्याग, तप, दान की महिमा सुनते हैं तब स्वीकार तो कर लेते हैं कि त्याग, तप, दान अवश्य करना चाहिये परन्तु इनका वास्तविक अर्थ न जानने के कारण यह कहने लगते हैं कि 'हम ग्रहस्थ हैं हमारे ऊपर अभी परिवार का भार है उनके प्रति हमारा बहुत कुछ कर्तव्य है।'

गुरुज्ञान प्रकाश में हमें यह ज्ञात हुआ कि प्राय: हम लोगों मे से अनेकों को कर्तव्य का भावार्थ नहीं विदित है क्योंकि जैसा कुछ अर्थ कर्तव्य का किया जाता है उस दृष्टि से तो कर्तव्य पालन का पक्ष त्यागी तपस्वी दानी नहीं होने देता। कर्तव्य पालन के कारण ही भगवद् भजन, साधन नहीं हो पाता, परन्तु ऐसा सोचना कर्तव्य का बहुत ही अनुचित अर्थ लगाना है।

वस्तुत: कर्तव्य पालक व्यक्ति ही त्यागी तपस्वी सेवा परायण दानी और भगवदानुरागी होता है।

अपने कर्तव्य को पूर्ण करते ही जो होना चाहिये वह स्वत: ही हो जाता है।

कर्तव्य का सरल अर्थ है 'करने योग्य'। करने योग्य वही है जिस से किसीका अहित न हो वरन दूसरों का हित हो। सर्वहितकारी प्रवृति ही कर्तव्य है परन्तु उसमें भी हमारा उतना ही कर्तव्य है जितना कुछ हम कर सकते हैं और उतना ही कर सकते हैं जितना करने के लिये हमारे साथ साधन सुलभ हैं।

जो कुछ हम नहीं कर सकते अर्थात् जिस की सिद्धि के साधन हमारे पास नहीं हैं वह हमारा कर्तव्य नहीं है।

हमें सद्गुरु ज्ञान प्रकाश में यह भी ज्ञात हो गया कि अ कल्याण के तथा अपने हित के लिये जो कुछ करना चाहिए वह कर सकते हैं क्योंकि उसके लिये जो कुछ साधन हैं वह स सुलभ हैं।

हमारा कल्याण अथवा हित यदि वस्तु तथा व्यक्ति के द्वारा हो सकता होता तो हमें कठिनता थी किन्तु अपना हित तो दूसरे सेवा करने में दोषों का त्याग करने में, परमात्मा के चिन्तन क रहने में निश्चित है तब हम सब लोग दूसरों की सेवा के लिए, दो के त्याग के लिए, परमात्म चिन्तन के लिये सदा स्वतन्त्र हैं इसीलि अपने कर्तव्य के पालन में हम कहीं परतन्त्र नहीं हैं।

भिन्न-भिन्न चाहके अनुसार कर्तव्य भी समयानुसार भिन भिन्न हैं।

यदि हम लोग सुख चाहते हैं तो यही कर्तव्य है कि जो कु शक्ति तथा योग्यता हमारे साथ है उसके द्वारा दूसरों को सुख दे रहें, किसी को अपने सुख के लिये दुख न दें।

जो कुछ हमें मिला है यदि उसका भोग ही करते रहेंगे, दूस को उसका कुछ भाग न देंगे तो कुछ ही दिन पश्चात् वह समाप्त ह जायगा। यदि मिले हुए को देते रहेंगे तो वह कई गुना अधिक ब कर हमें प्राप्त होता रहेगा चाहे वह सुख हो या दुःख हो।

मिला हुआ सुख तो बाँटने की वस्तु ह किन्तु दुख बाँटने की वस्तु नहीं वह तो अकेले भोग लेने में ही बुद्धिमानी है क्योंकि भोगने से उस दुख का अन्त हो जायगा।

पृथ्वी से जो अन्न हमें मिला है उसे यदि हम पुनः पृथ्वी में कुछ हिस्सा बो देते हैं तो कई गुना अधिक वापस होकर मिलत है, यदि नहीं बोते हैं तो कुछ दिन में वह अन्न खाते खाते समाप्त हो जाता है।

उसी प्रकार प्राणियों की सृष्टि में सुख बोते रहने से सुख बढ़ता है

हीं बोने से घटता जाता है और किसी समय वह सुख दुःख में दल जाता है

यदि हम धन चाहते हैं तो विधिवत श्रम करते रहना कर्तव्य है। म से अथवा पूर्व पुण्य से प्राप्त धन का सुपात्र को दान देना र्तव्य है।

यदि मान की चाह है तो बड़ों की, गुरुजनों की सेवा करते रहना अथवा दूसरों को मान देते रहना कर्तव्य है। यदि हमारे पास धना-भाव है तब धन का दान हमारा कर्तव्य नहीं होता परन्तु शरीर तथा णी के द्वारा तो हम सब को मान देही सकते हैं अतः जो कुछ हम र सकते हैं वही हमारा कर्तव्य है।

अपने गृह में स्त्री, बालक, वृद्ध, रोगी, अतिथि, त्यागी, देवता और आश्रित को सुखी रखना कर्तव्य है। इन सबको सुखी रखने से दैवी-सम्पत्ति साथ रहती है, इन सबको दुखी रखने से, अनादर करने से वी सम्पत्ति चली जाती है। जो दूसरों को दुखी देखकर प्रसन्न ोता है उसके पास दुःख अवश्य आता है।

शक्ति और महत्ता प्राप्त करने के लिये तप कर्तव्य है। स्वधर्म ालन में तथा दूसरों की सेवा करते हुए जो भी कष्ट आवें उन्हें सन्नता पूर्वक सहते रहना तप है। जिससे दुर्बलता न रहे वही प है।

बुद्धिमत्ता तथा विवेक वृद्धि के लिए बुद्धिमानों तथा विरक्त ानी महा पुरुषों की सेवा करना, संगति करना कर्तव्य है।

सन्ताप, पश्चाताप से मुक्त रहने के लिए क्रोध ईर्ष्या द्वेषका त्याग र्तव्य है।

दूसरों का प्यार पाने के लिये उनके काम आना अभिमान लोभ हित होकर सेवा करना कर्तव्य है।

कष्ट के अवसर पर सहायता के लिये धैर्य रखना कर्तव्य है। जस कर्म से सद्गुणों की वृद्धि हो वही अच्छा उत्तम कर्तव्य है।

सुखी दशा में अपने से हो सकनेवाली दुखियों की सेवा कर्तव्य है। सेवा करने से सदगुणों की वृद्धि तथा सदगति होती है सबका प्यार प्राप्त होता है। सेवा न करने से सुखी व्यक्ति भोगासक्त होता है दुर्बल, रोगी, पराधीन, निस्तेज, रागी, द्वेषी और सत्य विमुख होता है

दुखी दशा में दुख देने वाली चाह का अथवा दुखद दोष का त्याग कर्तव्य है। त्याग करने से निश्चिन्तता, निर्भयता दूरदर्शिता अन्तःकरण की पवित्रता, सरलता विनम्रता आदि सदगुणों की वृद्धि के साथ शान्ति प्राप्त होती है। त्याग न करने वाले व्यक्ति में शोक, शक्ति का ह्रास द्वेष क्रोध निन्दा छल कपट धूर्तता दुर्बलता रुग्णता अशान्ति की वृद्धि होती जाती है।

जब हम सुखी दशा में कर्तव्य विमुख हो जाते हैं तब दुख अपने आप आता है। कर्तव्य परायण व्यक्ति की सहायता दैवी शक्ति करती है।

माया के बन्धन से छूटने के लिये अपने स्वरूप को जानना, परमेश्वर की आज्ञा को मानना, कर्तव्य है।

दुर्व्यवहार से बचने के लिये कन्जूसी असंयम, आलस्य प्रमाद, अभिमान का त्याग कर्तव्य है।

जाने हुए दोषों को छोड़ना और जाने हुए अच्छे अच्छे गुणों को अपने में धारण करना कर्तव्य है। जो जाने हुए दोषों का त्याग नहीं करता और अपने दोष भी नहीं देखता, साथ ही अपने विश्वास पात्र से प्रगाढ़ प्रीति नहीं कर सकता उसकी साधना में प्रगति नहीं होती। जहाँ विश्वास है वहीं प्रीति गहरी है। गहरी प्रीति में त्याग, तप बहुत सुगम हो जाते हैं।

प्रेम पात्र की अटूट प्रसन्नता प्राप्त करने के लिये प्रीति को कामना रहित बनाना कर्तव्य है।

मन को निर्मल बनाने के लिये शुभ संकल्पों को पूर्ण करना, अशुभ

ंकल्प उठने ही न देना अवकाश मिलते ही निर्दोष तत्व का चिन्तन रना कर्तव्य है।

अपने हित के लिये स्वार्थ भाव को सेवा के द्वारा विषय सुखों के ति लोलुपता को इन्द्रिय संयम के द्वारा, असत्य वस्तुओं के चिन्तन ो आत्म चिन्तन के द्वारा मिटाना कर्तव्य है।

योग सिद्धि के लिये चित्त वृत्ति को रोकना और जड़ विनाशी स्तुओं के विपरीत परम चेतन आत्मा में चित्त का लगाना कर्तव्य है।

मुक्ति के लिये सर्व संग का त्याग करना कर्तव्य है, जो कुछ हमने ुन-सुन कर मान लिया है उसी को बुद्धि से जानना कर्तव्य है। ानने से बन्धन मोह और जानने से ज्ञान होता है।

दुःख से मुक्त होने के लिये सुख से विरक्त होना, अपमान वेदना ा मुक्त होने के लिये सन्मान रस से विरक्त होना, रोग जनित ष्ट से मुक्त होने के लिये भोग से विरक्त होना, वियोग विथा से क्त होने के लिये संयोग से विरक्त होना, शोक से मुक्त होने के ये हर्ष से विरक्त होना, हानि के आघात से बचे रहने के लिये ाभ से विरक्त होना देह की मृत्यु के भय से मुक्त होने के लिये ोवन की ममता से मुक्त होना परम हितकारी कर्तव्य है।

कर्तव्य की पूर्णता के लिये बड़ी से बड़ी कठिनाइयों, प्रतिकूलताओं ा सहन करना पड़ता है।

दूसरों के कर्तव्य पालन से हमे सुख भले ही मिल जाय : अपनी उन्नति, अपना हित तो अपने ही कर्तव्य पालन से हो कता है।

हम सबको इतने कर्तव्य परायण होना है कि दूसरे लोग हमें खकर स्वयं ही कर्तव्य पालक बनते जायें।

कर्तव्य का ज्ञान हो जाने पर शास्त्र ग्रन्थ अध्ययन की आवश्यकता ीं रहती केवल कर्तव्य पालन के द्वारा ही मानव परमेश्वर की कृपा

का अधिकारी हो जाता है; कर्तव्य पालक पर अनायास ही कृपा होती रहती है।

भूमि को विधि पूर्वक बनाकर बीज बो देना अपना कर्तव्य है उसके पश्चात् बीज का उगना पल्लव पुष्प और अन्त मे एक बीज से अनेकों बीज बन जाना यही कृपा है।

जो हमको करना चाहिये वह विधिवत कर लेने पर जो परमेश्वर अथवा प्रकृति की ओर से होना चाहिये वह स्वतः होगा। कर्तव्य समाप्त होते ही कृपा का कार्य आरम्भ हो जाता है कर्तव्य का उत्तर कृपा है।

विधिवत कर्म करने की योग्यता प्राप्त करना, साथ ही प्राप्त शक्ति तथा योग्यता का सदुपयोग करना, परिश्रमी एवं संयमी होना मानव का कर्तव्य है।

आत्मा में अनन्त शक्ति, सामर्थ्य एवं अनन्त ज्ञान है, यह सब जिस प्रयत्न से पूर्ण विकसित हो वही कर्तव्य है। कर्तव्य को जानने के लिये गुरु की, शास्त्र-मनन की आवश्यकता है।

सन्त का वचन है कि जो काम हमें करना चाहिये वह काम यदि भगवान करें तो हमारा क्या कर्तव्य है? विचार तो करो।

जिस दोष से दुःख होता है उसका त्याग करना और जिस सुखो-पभोग से अनेकों दोषों की वृद्धि होती है उस सुख की परिस्थिति में अधिकारी पात्रों की सेवा करना बुद्धिमान मानव का कल्याणप्रद कर्तव्य है।
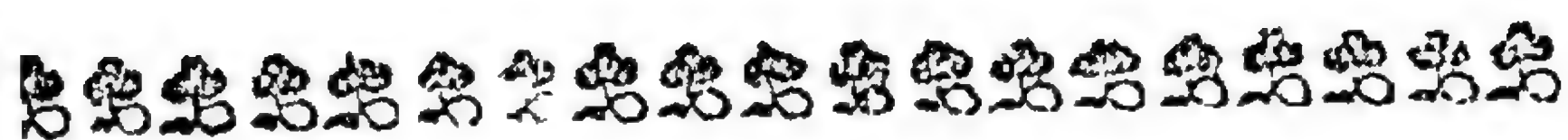
सत्य निर्णय

संसार में मानव वही सत्धर्म जो अपना
जिसमें कि सत्य विवेक हो, मन के विकार हटा
ज्ञानी वही जो सर्वदा, दुख द्वन्द में भी शान
प्रतिकूलता कितनी ही हो, समता न कोई डिगा
प्रेमी वही अपने लिये, जो कुछ नहीं हो च
निष्काम सेवा भाव से प्रियतम को जो कि रिझा
त्यागी वही जो विरक्त है, जो लोभ मोह से मु
जो कामना के साथ ही, देहाभिमान मिटा
जो दूरदर्शी सन्त जन, सौभाग्यवान उसे
जो भाग्यहीनों के लिये, सुख दान करता ज
सम्पत्तिवान वही जहाँ, दैवी गुणों का
शीतल हृदय उसका है जो, तृष्णा की आग बुझा
सबसे बड़ा समझो उसे, जिसको बड़े
सच्चा सुखी वह है कि जो, दुखियों के दुख
है शक्तिमान वही यहाँ, आता है सबके काम
परमार्थी वह है पथिक, जो शान्ति शाश्वत पा

रागद्वेष

गुरु ज्ञान प्रकाश में हमें राग द्वेष के दुष्परिणाम का भी दर्शन हो रहा है।

सोई ज्ञानी सोइ गुनी सोई दाता ध्यानि।
तुलसी जाके चित भई राग द्वेष की हानि॥

सभी दोषों का जन्मतथावृद्धि राग द्वेष की सीमा में ही निश्चित है। सुख से राग का जन्म, दुख से द्वेष का जन्म होता है। मन से मानी हुई अनुकूलता मे सुख की प्रतीति और प्रतिकूलता में दुःख की प्रतीति होती है।

मन से मानी हुई अनुकूलता, प्रतिकूलता तथा माने हुए सम्बन्धों पर विचार करने से अपनी भूल का ज्ञान होता है तभी रागद्वेष के त्याग शान्तिदायी दीखता है।

त्याग और प्रेम के विना रागद्वेष का अन्त नहीं होता।

त्याग किसी वस्तु का नहीं करना होता वरन मन के सम्बन्ध का करना पड़ता है। इसी प्रकार प्रेम किसी व्यक्ति से नहीं होता, वह तो वस्तु व्यक्ति के प्रकाशक सत्य से होता है।

किसी के पास यदि धन है तो धम का त्याग नहीं करना है; बल्कि उस धन के सम्बन्ध से जो मन में लोभ है उसी का त्याग करना है। किसी अधिकार का त्याग नहीं करना है, अधिकार के सम्बन्ध से जो अभिमान प्रबल है उसी का त्याग करना है। किसी सम्बन्धी का त्याग नहीं करना है; उस सम्बन्धी के प्रति जो मन में मोह भरा है उसी का त्याग करना है।

नेत्रों से रूप दर्शन का, कानों से शब्द श्रवण, नासिका से गन्ध ग्रहण का, त्वचा से स्पर्श का और रसना से रसास्वादन का त्याग नहीं करना है, त्याग तो करना है शब्द, स्पर्श, रूप, रसगन्ध के प्रति

ुखासक्ति का, उपभोग वृत्ति का जिसके कारण मन रागीद्वेषी
ानता है।

वास्तव में त्याग उसी का किया जाता है जो अशुभ है जो
असुन्दर है, अपवित्र है, अनावश्यक है। विचार दृष्टि से देखने
र धन, अधिकार, माता पिता, पत्नी पुत्र, बन्धु बान्धव आदि अशुभ,
असुन्दर, अपवित्र, अनावश्यक नहीं हैं, इनके सम्बन्ध से अज्ञानवश
ानमें उत्पन्न होनेवाले लोभ, अभिमान, मोहादि दोष अशुभ,
ासुन्दर अपवित्र अनावश्यक हैं; अतः यह सब दोष त्याज्य हैं।

इसी प्रकार इन्द्रियां अशुभ, असुन्दर, अपवित्र नहीं हैं उनके
ाषयों के प्रति आसक्ति तथा विषय जनित सुखोपभोग में शक्ति का
ापव्यय असुन्दर, अपवित्र, अनावश्यक है उसी का त्याग विवेकी
ानव करते हैं।

यदि हम दुखी होकर जिस कारण से दुख आते हैं उन दोषों
ा त्याग न करके गृह, कुटुम्ब, धनादिक पदार्थों का त्याग करते हैं
व किसी दूसरे प्रकार के गृह कुटुम्ब वैभव की रचना करते हुए
ागी तो हो नहीं पाते, त्याग का अभिमान अवश्य मस्तिष्क में भर
ते हैं। ऐसे त्याग के अभिमानी राग द्वेष के बन्धन से नहीं
ट पाते।

हमने चाहे जितना बड़ा त्याग किया हो किन्तु जब तक राग द्वेष
ा त्याग नहीं किया तब तक त्याग का फल परम शान्ति नहीं मिल
कती, मान, माया भोग की प्राप्ति भले ही हो सकती है।

रागद्वेष का त्याग न करके गृह कुटुम्ब ग्राम तथा वस्त्राभूषण
ाग करने वाले, अपने को साधु सन्यासी, उदासी, विरागी, तपस्वी,
रमहंस, जगद्गुरु, सद्गुरु, की उपाधि से समालंकृत करने वाले
कड़ों अांशिक्षित ही नहीं वरन् शिक्षित विद्वान चारों दिशाओं में जहां
ां दिखाई दे रहे हैं।

यदि इस प्रकार के त्यागियों तपस्वियों का दर्शन समूह रूप में

कोई करना चाहे तो किसी कुम्भ मेले में तीर्थों में, कर सकता है वहाँ पर जब त्यागियों की स्याही निकलती है और भिन्न भि अखाड़ों के, सम्प्रदायों के, मतों तथा समाजों के लोग जब एक की सजावट वनावट हाथी घोड़े मोटरों को देखकर प्रतिस्पर्धा पूर्व होड़ लगाते हैं तब भली प्रकार पता चलता है कि त्याग किसे कहते हैं। कोई खोज कर ऐसा त्यागी कठिनता से पा सकेगा जिसने अपना पहले गृह का त्याग करके दूसरा गृह, कुटी आश्रम के रूप में न बनाया हो, अपना कुटुम्ब परिवार त्याग कर शिष्य सेवक के रूप में दूसरे परिवार की रचना न की हो, साधारण स्थिति में मिलने वाले मान माया को त्यागने के पश्चात् विस्तृत रूप में मान, माया की प्राप्ति का पथ न बनाया हो।

सर्व समर्थ परम गुरु भगवान् कृष्णचन्द्र ने गीता में रागद्वेष के त्याग का सर्वोत्कृष्ट फल बताया है। वास्तव में त्याग की पूर्णता में ही परम तत्वज्ञान तथा परमात्मा का नित्य योगानुभव होता है सच्चे त्यागी ही संसार में महापुरुष सन्त महात्मा नाम से विख्यात हैं। उनके दर्शन समागम से मानव समाज को यथार्थ ज्ञान विवेक की प्राप्ति होती है; ऐसे त्यागी महापुरुष ही सर्वभूतों के हित में लगे हुए हैं उसके बदले में मान माया भोग कुछ भी नहीं चाहते हैं।

इधर हम लोग अपने को त्यागी महात्मा सिद्ध करने के लिये बड़े बड़े ठाट बाट बनाते हैं। मेलों में बड़े बड़े ऊँचे फाटक बनाते हैं। अपनी वाणी को स्वर को दिगन्त व्यापी बनाने के लिये धनिकों से धन लेकर यंत्र लगाते हैं, सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये सब से अधिक सुन्दर सिंहासन बनाने का प्रयास करते हैं इसके साथ ही अन्य त्यागियों ज्ञानियों उपदेशकों से अपनी तुलना करते हैं और अपने से किसी को न्यून पाकर तृप्त होते हैं अपने से अधिक श्रेष्ठ देखकर दीन होकर असन्तुष्ट होते हैं, यह है हम त्यागियों की मनः स्थिति।

कभी कभी तो हम त्यागी महात्माओं के दर्शन से पाप नाश की, ण्य प्राप्ति की भावना लेकर आने वाली नर नारियों की भीड़ें हम गों की चरण रज उठाले, उसमें लोट कर पाप मुक्त हो जाने के छे परस्पर टकराते हैं, गिरते हैं कुचलते हैं और सैकड़ों अपने प्राण वांकर शरीर बन्धन से तो मुक्त होजाते हैं; पाप से मुक्त हुए या हीं यह तो वही जानते होंगे। कुम्भ मेलों में होने वाली दुर्घटनाओं से प्रायः सभी समझ वाले सज्जन परिचित हैं। इस प्रकार की भयङ्कर हानियों दुर्घटनाओं के मूल में भी वही राग तथा द्वेष ही है।

हम सबको सावधान होकर विचार करना चाहिये और विचार विकास के लिये विरक्त ज्ञानी महापुरुषों के ज्ञान की शरण लेनी चाहिये। हम लोगों को चाहिये कि बाहरी वस्तुओं के त्याग को महत्व न देकर पहले वास्तविक त्याग का ज्ञान प्राप्त करें, त्याग का वेष न बनायें। कोई सच्चा त्यागी ही सर्वोत्तम पद प्राप्त करता है। जो रागद्वेष का त्याग कर देता है वह सभी स्थानों में त्याग और प्रेम को पूर्ण कर सकता है।

संयोग के प्रति राग न रहने पर संसार का त्याग हो जाता है। सुख के प्रति राग न रहने पर सम्बन्ध का त्याग हो जाता है।

अधिकार-भोग के प्रति राग न रहने पर अभिमान का त्याग हो जाता है, परम लाभ त्याग के ऊपर ही निर्भर है।

यदि कोई तप करता है तो उसमें शक्ति की वृद्धि होनी ही चाहिये। भगवान को कोई अपना मान लेता है तो उसके हृदय में प्रगाढ़ प्रीति प्रभु के प्रति होनी चाहिये। जो कोई सेवा करता है तो उसमें पवित्रता रहनी ही चाहिये। इसी प्रकार जो कोई रागद्वेष का, लोभ मोहादि दोषों का तथा भोगों की वासना का त्याग करता है तो अखण्ड शान्ति उसे प्राप्त होनी ही चाहिये।

हम जिसका त्याग नहीं कर पाते उसीसे प्रगाढ़ प्रीति होना निश्चित है। जब तक किसी के हृदय में सांसारिक सुखोपभोग

की तथा धन सम्पत्ति की और अधिकार सम्मान की कामना प्रबल तब तक वह रागद्वेष के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता।

रागद्वेष की निवृत्ति या तो संयोगजनित सुख की दासता वियोगजनित भय के त्याग से होती है या फिर संशय-विही विश्वासपूर्वक परम प्रभु में नित्य निर्भर रहने से होती है। पे सन्त वचन है।

उमा जे राम चरण रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभु मय देखहिं जगत का सन करहिं विरोध॥

प्रत्येक द्वेष का जन्म किसी न किसी वस्तु या व्यक्ति के प्री राग से ही होता है।

जो हमारा नहीं है, जो हमने उत्पन्न नहीं किया है, जो कुछ ह मिला है उसे अपना मानना ही राग है। रागी ही भोगासक्त होता है भोगसक्त ही सुख दुख की सीमा में आबद्ध होता है।

रागी परतन्त्र है, त्यागी ही स्वतन्त्र है। द्वेषी को ही दुःख रू दण्ड मिलता है प्रेमी को प्यार रूप पुरस्कार मिलता है। इन्द्रियों वे ज्ञान को पूर्ण मानने वाला रागी होता है, राग देहाभिमान को दृ करता है, उसीसे भोगों में प्रवृत्ति, उसका फल पराधीनता, शक्ति हीनता, जड़ता है। सीमा बद्ध अहं ही रागी द्वेषी होता है, सीमा से मुक्त अहं ही त्यागी प्रेमी होता है।

सन्त वचन—किसी को भी अपने में न रखना त्याग है।
सीमित अहंता ममता को छोड़ना ही त्याग है॥

लोभ, मोह, अभिमान, सुखभोग की तृष्णा तथा किसी प्रकार की सांसारिक चाह का न रहना ही त्याग की पूर्णता है। सभी दोषों को मिटानेकी शक्ति त्याग में ही है।

संसार को जानकर ही कोई राग का त्यागी हो सकता है। भगवान् को अपना सर्वस्व मान कर ही कोई प्रेमी हो सकता है।

संसार के प्रति राग और द्वेष ही त्याग एवं प्रेम को पूर्ण नहीं ने देता।

त्याग और प्रेम की पूर्णता ही मानव जीवन कीपूर्ण सफलता है। त्याग नहीं करता उसे दुःख त्यागी बनाता है। असत्य का त्याग सत्य से प्रेम है त्याग से ही सभी अंगों समेत जीवन शुद्ध होता। प्रेम से ही सभी अंगों सहित जीवन का सुन्दर शृङ्गार होता है।

अनावश्यक अशुद्ध चेष्टाओं क्रियाओं के त्याग से कर्मेन्द्रियों की द्धि होती है। अनावश्यक अशुद्ध संकल्पों के त्याग से ज्ञानेन्द्रियों व्यवहार शुद्ध होता है। अनावश्यक अपवित्र इच्छाओं के त्याग मन का व्यापार शुद्ध होता है।

अनावश्यक अपवित्र विनाशी स्वीकृतियों तथा सम्बन्धों के त्याग बुद्धि का विचार विस्तार शुद्ध होता है।

अनावश्यक अपवित्र असत् संगाभिमान के त्याग से अहं का ाकार शुद्ध होता है—जिसे ही अपने सत्याधार का अनुभव ोता है।

अहं का आकार जितना ही शुद्ध होता है उतना ही व्यापक सीमा न्धन से मुक्त होता जाता है।

अज्ञानी के अहं का आकार देहमय होता है किन्तु ज्ञानी के शुद्ध अहं का आकार जड़मय न रहकर चैतन्यमय होता है।

जहाँ तक रागद्वेष है वहाँ तक अज्ञान की ही सीमा है। सद्ज्ञान के द्वार में प्रवेश पाते ही त्याग प्रेम आरम्भ हो जाता है।

परमात्मा में अनन्त गुण ऐश्वर्य माधुर्य होते हुए उन्हीं के प्रेमी नहीं बनते यह द्वेष नहीं तो क्या है?

सीमित अहं के भोगासक्त जीवन में अगणित दोष होते हुए उसका त्याग नहीं कर पाते यह घोर राग नहीं तो क्या है?

अपने को शरीर मानना, यही सीमित अहं है; ज्ञान की कमी से सीमित अहं विचार नहीं कर पाता; विचार की कमी के कारण ही

यह भोगों में सुख मानता है, सुख मानने के कारण ही यह रागी
दुख की पूर्णता में ही रागद्वेष का त्याग सुगम होता है।
से प्रेम की पूर्णता सरल दीखती है। प्रेम की पूर्णता में समस्त
का दुखों का दुर्बलताओं का अन्त हो जाता है।

"प्रीति राम सों, नीति पथ, चलिय राग रिस जीत।
तुलसी सन्तन के मते यहै भगत की रीति॥
तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भये भव पार॥"

मूक सन्देश

इस जगत से जाने वाले मानों कहते जा रहे हैं।
ध्यान रखना तुम्हारे भी जाने के दिन आ रहे हैं॥

पुण्य निज हित के लिये जो कुछ तुम्हें करना हो करलो।
जो न कर पाये समय पर पीछे वह पछता रहे हैं॥

किसी के दिन एक सम जग में सदा रहते न देखा।
हँसने वाले रो रहे हैं, रोने वाले गा रहे हैं॥

यहाँ जो कुछ भी मिला है तुम उसे अपना न मानो।
बन्धनों से मुक्ति का यह मार्ग सन्त बता रहे हैं॥

मान माया भोग सुख की चाह ही सब को नचाती।
पथिक कोई त्याग के बिन कहीं शान्ति न पा रहे हैं॥

दुःख सुख का सदुपयोग

ज्ञान प्रकाश में ही हम सुख दुःख के सदुपयोग की विधि समझ रहे हैं।

मानव-समाज में ऐसी मान्यता है कि मानव-जीवन प्रारब्ध के
ुसार दुःख-सुख के भोगके लिये मिला है और कर्मभोगकी दृष्टिसे
ह भी ठीक ही है। पर तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषों का कहना है
मानव - जीवन दुःख - सुखके भोगके लिये नहीं, दोनों के
दुपयोगके लिये होना चाहिये। जो जीवन केवल भोगके ही लिये
वह तो कीट-पतंग-पशु-पक्षियों का जीवन है; पशु-जीवनमें विचार
ने अथवा धर्म-अधर्म और कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करनेकी
द्धि नहीं होती है; वह तो केवल मानव-जीवनमें ही होती है;
सलिये मानव वही है जो बुद्धिके द्वारा विचारपूर्वक दुःख-सुखका
दुपयोग करे। मिले हुए सुखका उदारतापूर्वक अपनेसे दुखी जनोंमें
तरण ही सुखका सदुपयोग है। मिले हुए दुःखको तपके भावसे
ौन रहकर सह लेना और जिस चाहकी अपूर्तिसे दुःख होता है
सका त्याग करना अथवा जिस परापेक्षी सुखके लिये दुःख होता है
ससे ही विरक्त हो जाना दुःखका सदुपयोग है।

जो व्यक्ति दुखी होकर दूसरोंको दुःख देता है वह एक नया
ापराध करता है। जो सुखी होनेपर दूसरोंको सुख देता है वह और
ी अधिक सुख पानेका अधिकारी बनता है। प्रायः संसारमें जितने
ी दुःख हैं वे जीवके किसी-न-किसी दोषके ही कारण आते हैं।
नके मूलमें अज्ञानवश होनेवाले लोभ, मोह, अभिमान और काम
ैं। इन्हींकी प्रबलतामें राग, द्वेष, क्रोध, छल, कपट, हिंसा, चोरी,
यभिचार आदि अनेक दोषोंका विस्तार होता जाता है। इन्हीं दोषों-
के कारण अनेक दुःख जीवको देखने पड़ते हैं। जो मनुष्य दुःख

मिटाना चाहता है उसे दोषोंको मिटानेका प्रयत्न करना च
दोषोंके मिटनेपर दुःख अपने-आप मिट जायेंगे। किसी
औषधि करनेके साथ उसका कारण जान लेना आवश्यक है
तरह दुःख-मिटानेका उपाय जाननेके साथ-ही-साथ उसका
जान लेना भी आवश्यक है।

कुछ लोग सांसारिक सम्बन्धियों और वस्तुओंके संयोगसे
निवृत्तिकी आशा करते हैं, पर यह स्मरणीय है कि इस प्र
संयोगसे कुछ देरके लिये दुःख दब जाता है पर मिटता नहीं
यद्यपि सुख-प्राप्तिका साधन अधिकाधिक पुण्योंका संचय
विधिवत् प्रयत्न है तो भी अधिक सुखसे किसीका दुःख नहीं
है। दुःख दोषोंके त्यागसे ही मिटता है। दुःख ही पापसे
अविचारसे विचार, रागसे त्याग, द्वेषसे प्रेम, भोगसे योग, असं
संयम, मृत्युसे मुक्ति, सुखसे आनन्द, असत्यसे सत्य देहसे श
आत्मा और अन्धकारसे प्रकाशकी ओर बढ़नेकी प्रेरणा देता
दोषोंसे मुक्त हुए बिना दुःख कभी पीछा नहीं छोड़ता है।

दुःखी होकर दूसरोंको दोषी ठहराना और भी अधिक दुः
आमन्त्रित करना है। दुखी होकर अपने भीतर दोषोंको खोज
मानवता है—बुद्धिमत्ता है। विवेककी प्रधानतामें ही मानवता प्रति
होती है; मानवतामें दिव्यताका अवतरण ही जीवनकी सार्थकता
दुःख ही सद्गतिका मुहूर्त बनता है; दुःखकी कमी दोषोंके पथ
जाती है, दुःखकी पूर्णता दोषोंसे विमुख बनानेमें सहायक होती
संसारसे निराश होनेपर ही दुःख पूर्ण होता है और ऐसी स्थि
ही जीव भगवान्के शरणागत होता है। शरणागति से दोषोंका
होनेपर दुःखसे सदाके लिये मुक्ति मिल जाती है।

पूर्ण दुखी संसारसे विरक्त हो जाता है; किसीको दुःख नहीं
है; सांसारिक विनाशी वस्तुओंके संयोगका सुख नहीं चाहता
दुःखकी निवृत्ति चाहता है इसलिये वह त्यागको अपनाता है। त्य

होना ही दुःखका सदुपयोग है। संसारसे कुछ न चाहना, किसी पदार्थ या व्यक्तिको अपना न मानना और 'मैं-पन' तथा 'मेरे-पन' को छोड़ना ही वास्तविक त्याग है। दुःख और सुखके सदुपयोगके लिये प्रत्येक मानव स्वतन्त्र है। जो सुख-भोगमें आसक्त रहता है तथा दुःखसे डरता है वह जीवनमें कोई भी श्रेष्ठ कार्य नहीं कर पाता है। दुःखसे न डरकर दोषसे डरना चाहिये। दोषके त्यागसे दुखीपर दीनबन्धु परमात्माकी दया हो जाती है, वह सौभाग्यकी ओर गतिशील होता है। सुखी और सौभाग्यशाली व्यक्ति दोषको स्वीकार करते ही दुर्भाग्यके पथमें पतित होता है। सुखकी चाहका त्याग कर देनेपर दुखीको आनन्द मिलता है; सुखीको परिवर्तनशील भोग मिलता है। दुःखसे जीवका विकास और सुख-भोगसे शक्तिका ह्रास होता है। जड़ संसार दुःख दे नहीं सकता और आनन्दस्वरूप भगवान् दुःख प्रदान नहीं कर सकते; समस्त दुःख मानवके दोषोंके कारण ही होते हैं। दोषोंका अन्त करनेके लिये संत पुरुषोंने तीन उत्तम साधन बताये हैं; वे हैं जितेन्द्रियता, दूसरोंकी निष्पक्ष-निष्काम सेवा और भगवान्का चिन्तन। अविवेकीद्वारा दुःख-सुखका भोग बन्धनका पथ है। विवेकीद्वारा दुःख-सुखका सदुपयोग मुक्तिका मार्ग है।

सावधान

सोचो तो सज्जनों यहाँ, स्वाधीन शान्ति पाते न क्यों।
सुख का ही अन्त दुख देख कर परमार्थ पथ में आते न क्यों॥

शुभ या अशुभ कर्मों का फल, तुमको ही भोगना पड़े।
अब सावधान होके तुम निष्कामता को लाते न क्यों॥

कितना ही तुमने तप किया संयम दान जप किया।
सत्य को जानने न दे वह अभिमान मिटाते न क्यों॥

मन में सुखोपभोग की तृष्णा भी एक आग है।
जिसकी न पूर्ति होती कभी त्याग से उसको बुझाते न क्यों॥

सुन्दर मानव तन मिला, सत्संग का सुयोग भी।
ऐसा सुअवसर पाके पथिक जीवन सुफल बनाते न क्यों॥

अपने को सुन्दर कैसे बनायें

हमें गुरु ज्ञान के द्वारा यह भी ज्ञात हुआ कि मनुष्य स्वयं अपना
र्माता, अपने को सुन्दर असुन्दर रूप में गढ़ने वाला है, अपने ही
ाये हुए भाग्य भवन में इसे रहना होता है चाहे वह आगे चल
र अनुकूल हो या प्रतिकूल हो।

जिस प्रकार एक-एक ईंट के द्वारा अथवा एक पत्थर क ऊपर
ूसरा पत्थर विधिवत रखते जाने से शरीर के रहने योग्य भवन बन
ाता है, विधि की भूल होने से योग्यता की कमी से, तथा प्रमाद
भवन असुन्दर दुखदाई भी हो जाता है उसी प्रकार एक-एक
र्म के ऊपर कर्म करते जाने से भाग्य भवन बनता है। यह भवन
विधि की भूल से योग्यता के दुरुपयोग से असुन्दर दुखद प्रतीत
ता है परन्तु भवन बन जाने पर तब तक उसी में रहना होता है
ब तक दूसरा अनुकूल सुन्दर भवन अपनी शक्ति से, विधिवत
यत्न से तैयार न कर लिया जाय।

इस लोक तथा परलोक की स्थूल और सूक्ष्म शक्तियों का जितना
ज्ञान हमें होगा उतना ही हम लोग उन शक्तियों का अपने
ीवन-निर्माण में उपयोग कर सकते हैं।

केवल शक्ति प्राप्त होना ही शुभ सुन्दर सुख सौभाग्य की बात
हीं है, सौभाग्य की बात शक्ति के सदुपयोग का ज्ञान प्राप्त
ना है।

शक्ति तो पशु पक्षियों को मनुष्य से अनेकों गुना अधिक प्राप्त है
रन्तु ज्ञान की कमी से मनुष्य के अतिरिक्त [illegible] शक्ति

द्वारा स्वतन्त्रता पूर्वक सदुपयोग कर के अपने जीवन को न्द
तथा बन्धन मुक्त नहीं बना पाते हैं।

विवेक के द्वारा हम लोग प्रकृति के नियमों का पालन कर प्रकृ
को स्ववश कर सकते हैं और प्रकृति शक्ति से महान लाभ को प्रा
हो सकते हैं।

प्राप्त शक्ति को आलस्य प्रमाद वश व्यर्थ खोने से मनुष्य की दे
प्रायः रोगी होती है, प्राप्त सम्बन्ध का दुरुपयोग करने से आ
मिलने वाले सम्बन्ध क्लेशदायक होते हैं। हम दूसरों को कष
देकर स्वयं अपने लिये उन्हीं कष्टों का मार्ग बनाते हैं। दूसरों क
सेवा करते हुए सुख देकर हम अपने लिये सेवक तथा सुखद परि
स्थिति तैयार करते हैं। हम दूसरों के बीच में सुख या दुख ज
कुछ भी बोते हैं वही कई गुना काटते हैं।

प्रत्येक मनुष्य को आज जो कुछ मिला हुआ दीखता है वे
दिया हुआ ही मिला है। जिसने पहले कुछ धन दिया है उसे धन
मिला है जिसने पहले दूसरों को मान दिया है अथवा प्यार किया
है उसे आज दूसरे से मान तथा प्यार मिल रहा है, जिसने नहीं
दिया है उसे नहीं मिल रहा है; बल्कि किसी ने दूसरों को अपमानित
किया है, धोखा दिया है, किसी के धन तथा अधिकार का अपहरण
किया है तो आज उसी का प्रतिफल उन्हें भोगना पड़ रहा है।

यहां पर कोई यह न समझले कि 'हम दूसरों का अपमान इस-
लिये करते हैं, हानि इसलिये पहुँचाते हैं, धोखा इस लिये देते हैं
क्योंकि उनके भाग्य में यही देखना बदा है, ऐसा समझ बैठना
मूर्खता की बात है।

निस्सन्देह किसी की सञ्चित सम्पत्ति चोरी के द्वारा जानी है
तब कोई साधु सज्जन चोरी करने तो आयेंगे नहीं, चोरी करने वही
आयेगा जिसके मनमें बिना श्रम के दूसरे का धन अपहरण कर सुखो-
पभोग की दुष्कामना है वह तो अपनी शक्ति का दुरुपयोग पराया धन

पहरण में करेगा ही तब उसका सम्बन्ध ऐसे ही व्यक्ति से जोड़ा
[ज]ायेगा जिसे किसी दुष्कर्म के फल से धन हानि का दण्ड
[भो]गना है।

जब किसी पुण्य का फल भोगना होता है तब उसी प्रकार के
[स]म्बन्धों का सुयोग हो जाता है। पवित्र देश में, पवित्र कुल में,
[स]ज्जन परिवार में जन्म होता है प्रथम से सन्त महापुरुषों का सुसंग
[स]ुलभ हो जाता है और यदि किसी पाप का फल भोगना होता है
[त]ब उसी प्रकार का सम्बन्ध तथा कुयोग सामने आ जाता है। प्रत्येक
[प्र]ाणी के सामने वही आता है जिसके लिये उसने कभी प्रयत्न किया
[है], जिसकी कामना उसके मन में प्रबल रही है।

अपने आप जो कुछ मिला है यही प्राणी का प्रारब्ध है और
[मि]ले हुए का सदुपयोग करना पुरुषार्थ है।

मनुष्य के सामने चाहे जैसी परिस्थिति हो अपने में विवेक बढ़ा-
कर उसके सदुपयोग से अपने जीवन को कष्टों से, बन्धनों से मुक्त
बना सकता है।

मनुष्य के शुद्ध और अशुद्ध संकल्प, अथवा भाव एवं विचार ही
उपकारी और अपकारी, लाभ का सुख का सुयोग दिलाने वाले या
हानि कष्ट के कुयोग में ढकेलने वाले देव या दैत्यवत रूपों में काम
करते रहते हैं।

प्रत्येक मनुष्य के साथ ऐसी शक्ति है, एक ऐसा आकाशिक
तेज है जिसको लेकर ही वह अपने आस-पास अपने संकल्पों भावों
के अनुसार सृष्टि रचता रहता है यह सृष्टि मनुष्य की कामना,
संकल्प, तृष्णा की तरंगों से अनुरूप सुन्दर या असुन्दर बनती है।
मनुष्य के विचारों संकल्पों का सम्बन्ध या तो दैवी शक्ति या आसुरी
शक्ति से रहता है उसी शक्ति की प्रेरणानुसार शुभ या अशुभ कार्यों में
प्रवृत्ति होती है।

हम लोग संकल्प के सांचे में शक्ति को भर कर तदनुसार एक

रूप गढ़ लेते हैं वही रूप देव या दैत्य नाम से प्रसिद्ध है यह आ
बनाये हुए संकल्प रूप सूक्ष्म शरीर से सम्बन्धित रहते हैं और इ
के द्वारा अनायास ही किसी में बहुत ऊँचे कार्यों की पूर्ति हो
रहती है और किसी में बहुत ही नीची प्रवृत्ति पाई जाती है।

इन संकल्पों की आकृतियों का भण्डार आकाश है इसी लि
हमारे शास्त्रों पुराणों में आकाश निवासी चित्रों को चित्र गुप्त क
गया है वैसे यह सब गुप्त चित्र हैं यही गुप्त चित्र मनुष्य के जीव
में होने वाले कर्मों को स्पष्ट करते हैं। इन्हीं के अनुसार मनुष्य
स्वर्ग सुख तथा नर्क दुख का अनुभव करना होता है। मनुष्य
जन्मों-जन्मों के कर्म इसी चित्र गुप्त के वही खाते में गुप्त चित्रों
रूप में अंकित हैं। इस चित्रगुप्त के वही खाते को देखने की श
जिस सन्त महा पुरुष में होती है वही जन्मान्तरों का ज्ञान प्राप्त क
लेता है। हम मृत्यु के समय जो 'काल' अधूरा छोड़ते हुए शरीर
अलग होते हैं दूसरे जन्म में वहीं से आरम्भ करते हैं। हमारे प
जन्म की इच्छायें अभिलाषायें दूसरे जन्म में भरपूर शक्ति के सा
पूरी होने के लिये प्रगट होती हैं।

हम अपने चित्र में शुभ या अशुभ जैसी भी वस्तु बसा लेते हैं
अर्थात् सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, उसी का मनन करते हैं, मनन के द्वार
ही हम सब का स्वभाव बनता है, स्वभाव के अनुसार ही हमा
जीवन की गति होती है। जिस रूपका हम चिन्तन ध्यान करते हैं
वही रूप हमें प्राप्त होता है।

हम सबको अशुभ, असुन्दर, तुच्छ वस्तुओं से सम्बन्ध नहीं
जोड़ना चाहिये। अपने चित्त को अशुभ असुन्दर में भ्रमण करने से
रोकते रहना चाहिये क्योंकि चित्त जिन रूपों में भ्रमण करता है
उसीमय बन जाता है, शुभ सुन्दर के संयोग से अशुभ वृत्ति
बनती हैं।

किसी भी प्राप्ति की अभिलाषा करना मानो प्रकृति से याचना

करना है। हम लोग जो कुछ भी हृदय से चाहते हैं प्रकृति उसी की पूर्ति का मार्ग बनाती है यद्यपि हम पहले से देख नहीं पाते किन्तु एक दिन अपनी पूर्ति के स्थल पर अपने को पहुँचा हुआ पाते हैं।

हमें अपने हृदय की अभिलाषाओं से, इच्छाओं से, अपनी सद्गति या अधोगति का ज्ञान हो सकता है। हम अपने जीवन का उच्चतम लक्ष्य निश्चित करके अपनी गति विधि को बदल सकते हैं। हम पवित्र संग से पवित्र के मनन चिन्तन से अपने चित्त को पवित्र बना सकते हैं।

ऐसा कोई सद्गुण नहीं जो चित्त के शुद्ध होने पर न आ जाये और ऐसा कोई दोष नहीं जिसका सम्बन्ध चित्त की अशुद्धि से न हो।

सन्तवचन—भोग सुखों में तल्लीन चित्त अशुद्ध है भगवान मे लीन हुआ चित्त शुद्ध है।

मन की इच्छा पूरी करना ही भोग है, दूसरे के मन की पूरी करना सेवा है, मन को परमात्मा में लगा देना उपासना भक्ति है और मन को मिटा देना ही मुक्ति है।

मानसिक दुष्प्रवृत्तियों, कुभावनाओं, को जीतना ही वास्तविक विजय है। अपने सद्गुणों को दोषों के प्रहारों से बचाना स्वाभिमान है इससे भी उत्तम असत् संगाभिमान से अपने को असत रूप न होने देना स्वाभिमान है।

मन को शान्त रखने की कुशलता सबसे बड़ी विद्या है।

अपना सुन्दर निर्माण करने के लिये अर्थात् अपने को सुन्दर बनाने असुन्दरता को मिटाने के लिये व्यर्थ चेष्टा, व्यर्थ प्रलाप, व्यर्थ चिन्ता तथा शोक में ह्रास होने वाली शक्ति को संयम के द्वारा बचाना चाहिये। जब आवश्यक कार्य न हो तब मौन रहना चाहिये, एकान्त में परमात्मा का चिन्तन करना चाहिये।

दूसरे के शब्दों में निन्दा, स्तुति, मान, अपमान मानना मन की

कल्पना ही तो है? इस मे अपने मन को रागी द्वेषी न बनाना चाहिये।

सन्त वचन—दैवी सम्पत्ति समता में और आसुरी सम्पत्ति मम(में टिक कर कार्य करती हैं।

हमें दोषों को त्याग करके इन्द्रियों को, मन को संयम में रख कर शक्ति के द्वारा सेवा करते हुए परमात्मा के चिन्तन द्वारा अपना निर्माण करना है।

हम परमार्थ प्रेमियों को अपने में ऐसे गुणों की स्थापना करनी है जो दूसरों के दोषों से पराजित न हो, उस बल को प्राप्त करना है जिसमें किसी प्रकार दुर्बलता शेष न रह जाये।

प्रेमी के लिये अपने प्रेमास्पद के प्रति अभेद सम्बन्ध तथा पूर्ण अपनत्व का भाव ही उत्तम सुन्दरता है।

लोभ, मोह अभिमानादि दोषों से जीवन कुरूप मलिन हो जाता है।

हम सबके पारस्परिक व्यवहार में जितनी अधिक उदारता अर्थात देते रहने की आदत बढ़ेगी, जितनी अधिक सहनशीलता आयेगी दया और क्षमा करते रहने का स्वभाव बन जायगा निरन्तर प्रेम मय तथा परमात्मामय मनोवृत्ति हो जायगी उतनी ही शीघ्रता से हम अपने जीवन को सुन्दर शान्तिमय आनन्दमय बना सकेंगे।

अपने को सुन्दर दिखाने के लिये हम लोग शरीर को स्वच्छ रखने का प्रयास करते हैं वस्त्राभूषण द्वारा शृंगार करते हैं, इसके साथ ही यदि अपने मन को सुन्दर दोष रहित नहीं बना पाते तो इस मन की मलिनता के कारण महान के स्नेह पात्र नहीं हो सकते।

वास्तव में हमें अपने तन के साथ मन को चित्त को बुद्धि और अहँ को सुन्दर पवित्र बनाना ही होगा।

संसार में जो कुछ भी पवित्र है, शीतल स्निग्ध, निर्लिप्त है वह सुन्दर है। सुन्दर पवित्र का संग ही सौन्दर्य लाने का साधन है

ास्तव में अपना सत स्वरूप ही परम सुन्दर पवित्र है परन्तु उसका ान न होने के कारण हम वाह्य शृंगार को सब कुछ मान बैठे हैं।

एक सन्त का वचन है कि 'हमारा जीवन इतना सुन्दर होना ाहिये कि संसार स्वमेव जीवन को प्यार करे और हमें इतना सुन्दर ोना चाहिये कि भगवान स्वयं हमें प्यार करे'। संसार से कुछ न ाहना और संसार के काम आते रहना हमारे जीवन की सुन्दरता है। भगवान से कुछ न चाहना और भगवान की प्रसन्नता का निरन्तर ध्यान रखना यही हमारी सुन्दरता है।

अपने जीवन को सुन्दर बनाने के लिये असंयम को संयम से, स्वार्थभाव को सेवा से व्यर्थ विषय चिन्तन को सार्थक चिन्तन से, देहाभिमान को आत्म ज्ञान से द्वेष को प्रेम से, क्रोध को क्षमा से, लोभ को उदारता पूर्वक दान से अहंकार को विनम्रता से, बन्धन को असंग वृत्ति की दृढ़ता से मिटाना होगा।

लोभ, मोह, क्रोधादि विकारों के त्याग से हमारा जीवन शुद्ध होता है और दया, क्षमा, विनम्रता, सरलता, सेवा तथा दान से सुन्दर होता है। यथार्थ ज्ञान से सुन्दरता का दर्शन होता है और निष्काम प्रेम से सुन्दरता का सेवा में सदुपयोग होता है।

हम अपने जीवनमें सुन्दरता चाहते हैं। हम चाहते हैं कि सुन्दर नौकर मिले, सुन्दर मित्र मिले सुन्दर पति मिले, सुन्दर पत्नी मिले— प्रत्येक व्यक्ति सुन्दर-ही-सुन्दर चाहता है। सुन्दर का अर्थ आकृति नहीं है, सुन्दर जीवन है। सुन्दरता की कसौटी यह है कि हमें सुन्दर स्त्री मिले तो प्रेमसे सेवा करे, आज्ञा माने, सुन्दर बचन कहे। सुन्दर पतिसे इसी प्रकार पत्नी सुन्दर व्यवहार की आशा करती है। सुन्दरताकी प्यास सबको है, सब उसके भूखे हैं मानवको इस दिशामें पद-पदपर धोखा खाना पड़ता है, दूसरोंसे तो वह सुन्दरताकी आशा करता है, पर दूसरों के लिये स्वयं सुन्दर बननेका प्रयास नहीं करता। प्रत्येक मानवको यह संकल्प करना चाहिये कि दूसरे सुन्दर बनें या न बनें,

पर मुझे अपने आपको सबके लिये सुन्दर बनाना है। सुन्दर रहनेमें ही जीवनकी सार्थकता है। सुन्दर जीवन ही पुण्यमय जीवन और असुन्दर जीवन ही पापमय जीवन है। अपने लिये किसी कष्ट देना ही असुन्दर है तथा दूसरों के लिये स्वयं कष्ट सहना सुन्दर जीवन है। हम जिन लोगों के बीचमें रहते हैं उनके साथ य हम असुन्दरताका परिचय देते हैं, अपने सुख-सम्मान-भोगकी पूर्ति जीवन लगाते हैं तो असुन्दरता—नारकीयताका ही संचय करते हैं ज्ञानी अथवा विवेकीका ज्ञान—समझ इसीमें है कि चाहे कोई कित ही असुन्दर हो वह उससे लाभ उठाता चला जाये; आसपास लोगोंकी, अभिमानी असुन्दर अन्यायी तथा अविवेकी आदि कहव शिकायत करनेसे कुछ भी हाथ नहीं लग सकता, उन्हीं के बीच सहिष्णु और विनम्र बनकर रहनेसे जीवनमें निर्मल- वास्तवि सौन्दर्यकी परिपुष्टि होती है। इस प्रकारका संयत आचरण कि भोगीके वशकी बात नहीं है, यह तो उसके लिये सम्भव है जो संसार भोगोंसे छक गया है—ऊब गया है, तृप्त होगया है और आगे बढ़ चाहता है, अपने-आपमें उच्चतम मानवताका विकास करना चाहता सुन्दर मानवतामें दिव्यता उतारना चाहता है; प्रेम, शान्ति, सुन्दरत स्वाधीनता, मुक्ति और भगवत्प्राप्तिके लिये अपना जीवन शक्तिसम्प करना चाहता है। अभिमानियोंके बीचमें ही विनम्रताकी पुष्टि हो है, लोभियोंके बीचमें ही संतोष-लाभका अभ्यास सफल होता है यदि विनम्र और संतोषी बननेमें कष्ट होता है तो निस्संदेह जीवन सद्गुणोंका सौन्दर्य नहीं उतर पाता है। अपने दोषोंसे परिचित हो सद्गुणोंके सुन्दर पथपर चलनेका परिचायक है।

कोई कितना ही गरीब है, निर्धन है, पर अपनी उन्नतिके लि वह उतना ही स्वतन्त्र है, जितना एक सम्राट् हो सकता है। व अपने भीतर ऐसी मस्ती ला सकता है कि सम्राट् भी उसे पराजि नहीं कर सकता। जबतक किसी व्यक्ति या वस्तुका आश्रय लिर

जाता है तबतक निर्भयता और वास्तविक शान्तिकी अनुभूति नहीं हो पाती है। सनातन ज्ञान अथवा प्रेमका अनादर कर व्यक्ति और हेतुकी दासतामें कितना कष्ट उठाना पड़ता है—इस सत्यपर विवेकी मानवको विचार करना चाहिये। यह एक चिरस्मरणीय बात है कि हमें व्यवहारिक क्षेत्रसे अपने समस्त दोषोंको मिटाना है। दोषोंके मिटनेपर मानवताकी जागृति और दिव्यताके अवतरणका आरम्भ होता है। मानवतासे ही दिव्यताकी प्राप्ति सम्भव है, असुन्दरता और पशुतासे यह नहीं आया करती है। सबसे ऊँचा ध्येय यही होना चाहिये कि हम अपने व्यवहारमें सद्‌गुणोंका विकास करें। हमें अपने जीवनके लिये दोषोंकी नहीं, सद्‌गुणोंकी आवश्यकता है। सद्‌गुणोंके विकाससे ही जीवन सुन्दर होता जाता है। यदि कोई क्रोधमें आगे बढ़ता है तो हमें क्षमामें आगे बढ़ना चाहिये, कोई अपने आपमें दोष-ही-दोष बढ़ाता है तो हमें अपने भीतर सद्‌गुणोंकी वृद्धि करनी चाहिये। सद्‌गुणोंकी वृद्धि से जीवन निःस्वार्थ, प्रेममय और पवित्र तथा सुन्दर होता है।

ही मन से पकड़ना है और जानना ही पकड़े हुए को देख
मान कर हम रागी द्वेषी बनते हैं, जान कर ही हम त्यागी
प्रेमी होते हैं। हम सबको चाहिये कि जिसे सुन सुन करके
मान कर रागी द्वेषी बने हैं उसी को जानें, जानने का अर्थ पक
को देखना, इस देखने को ही ज्ञान कहते हैं।

जिन वस्तुओं को तथा व्यक्तियों को हम सबने अपन
रक्खा है उसी को जब बुद्धि दृष्टि से देखते हैं अर्थात् ज
पकड़े हुए का ज्ञान होता है तब यह कुछ भी अपना प्रतीत नहीं
वरन् सब मिला हुआ दीखता है और सुख दुख कल्पित
होता है।

असत्य का विनाशी का ज्ञान होने पर उसे अपना न मानन
राग के त्याग का साधन है। और सत्य अविनाशी को जानने
पश्चात् अपने से अभिन्न अनुभव करना ही प्रेम की पूर्णत
उपाय है।

अविवेकी लोगों के साथ रहकर हम सुन-सुन कर जिसे अ
मानते हुए मोही, लोभी, अभिमानी बनते हैं। ज्ञानी महापुरु
संग रहकर उसी सब कुछ को अपना न मानते हुए हम नि
निर्लोभी, निरभिमानी हो सकते हैं।

मानने वालों ने 'यह भी तुम्हारा है, यह भी तुम्हारा है'
सुना-सुना कर हमें मनाया है और जानने वालों ने 'यह भी तुम्
नहीं, यह भी तुम्हारा नहीं' कह कर जनाया है।

मन से मान कर हम सब लोग जिस बन्धन में पड़े हैं बुद्धि
जानकर उस बन्धन से मुक्त हो सकते हैं, मन को व्यर्थ कोसने
आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

वास्तविक ज्ञान उसे कहा जाता है कि संसार को जानकर भ
सुखों से विरक्ति हो जाय और परमात्मा का अथवा सत्य का ज्ञान
यही है कि उससे अनुरक्ति हो जाय।

सब कुछ परमेश्वर का जानकर, अपना कुछ न मान कर, जो कुछ
मेला है जैसी परिस्थिति है उसका सदुपयोग करने से वासनाओं
मनाओं के त्याग से मन शान्त हो जाता है।

वीती हुई घटनाओं का मनन न करने से, आगे की चिन्ता न करने
जो कार्य सामने हो उसे पूरा मन लगाकर करने से भी मन एकाग्र
जाता है। संसार से निराश होने से; किसी से सम्बन्ध न रखने
मन अचञ्चल अवस्था को प्राप्त होता है। जो कोई अपना मन
पने प्रेमास्पद को दे देता है अथवा किसी से भी राग द्वेष नहीं
जाता तब भी मन शान्त हो जाता है।

जहां तक वासना कामना है, इच्छाएं हैं, वहां तक मन शान्त
हीं हो सकता। चल के साथ मन का सम्बन्ध रहने से चञ्चल
ता है; अचल का योगानुभव करने से मन अचल होता है—यह
की अनुभूति है।

मन के रथ में बैठ कर जो वाजार में भ्रमण कर रहा है वह तो
गा ही, वही मनोरथी है, मनोरथी की चाह का पता तो वाजार में
ता है। भोग सुखों की चाह रखने वाला, मन के रथ में बैठ कर
ता रहता है चाह रहते चञ्चलता नहीं मिट सकती।

हम लोगों को चाहिए कि चाह को या तो धर्म पूर्वक भोग से
करें या फिर ज्ञान वल से चाह का त्याग करें अथवा तप के द्वारा
कर दें तभी निस्संकलपता प्राप्त होती है—यह सन्त का वचन

'जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहि काम।
तुलसी कैसे रहि सकै रवि रजनी इक ठाम॥'

जिस मन से कामना मिट जाती है उस मन में भगवान निवास
हैं वही मन परमात्मा का योगी होता है।

मन के द्वारा हम सुख दुःख का भोग करते हैं, बुद्धि विवेक से हम
दुख के वन्धन से मुक्त हो सकते हैं।

हम सबको मन के ही संयोगी न बने रहकर बुद्धि-योगी ह
चाहिए परन्तु जब भोगों में आसक्त हैं ऐश्वर्य तथा मान चाहते हैं
तक बुद्धि योगी नहीं हो सकते क्योंकि भोगों में आसक्ति रहने
राग, भय, चिन्ता, स्पृहा ही बुद्धि को स्थिर नहीं होने देती। जब
कछुआ की भांति इन्द्रियों को समेट सकेंगे तब बुद्धि स्थिर होगी।

यदि प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग करते हुए प्रसन्न रह स
तो इससे भी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

बुद्धि के स्थिर होने पर संसार का यथार्थ ज्ञान होता है और उ
ज्ञान के अनुसार कर्तव्य धर्म का ध्यान रहता है तभी मन की स्वच्छ
अभ्यस्त गति पर अधिकार प्राप्त होता है। बुद्धि में विवेक प्रबल हो
पर हम मन से ही काम न लेकर बुद्धि से काम लेते हैं। प्रत्येक क
बुद्धि-विवेक पूर्वक करना यही मन का नियन्त्रण है।

हम मन के जीवन हैं, हमसे ही मन की गति है, हम ने
मन का संग किया है, जैसे हम हैं वैसा ही हमारा मन है। ह
मन के द्वारा जिस वस्तु या व्यक्ति को अपना मान लेते हैं औ
मनन करते हैं वह मन उसी वस्तु के रँग में रँग जाता है। ह
सुखोपभोग का मूल्य बढ़ाते हैं तभी मन सुखोपभोग में सन जात
है; उसका परिणाम दुःख देखकर हम मन से घृणा करते हैं, इस
मन का क्या दोष ! क्योंकि पहले हमने ही तो मन को सुखोपभो
में संस्लिष्ट होने (सनने) दिया है। हम अपने हाथों को कीच
में तारकोल में किसी तेल मे डुवा दें फिर चाहे हाथों को शी
निकाल लें या देर मे किन्तु हाथों मे वह कीचड़ या तेल तो लग ह
जायगा; उसे ही नासिका के समीप लाकर हम दुर्गन्ध का अनुभ
करें और हाथ को दोषी ठहरायें तो हमारी ही भूल सिद्ध होगी
इसी प्रकार आज सुखोपभोग, विषयवासना तथा विविध कामन
मे सने हुए मन को जब बुद्धि दृष्टि से देखते हैं तब उसे ही दोषी
मानते हैं पर अपनी आरम्भिक भूल को नहीं देखते। हम लोग तुम

चाहते हैं और मन के द्वारा इच्छित सुख का भोग करते हैं। मन का इतना ही काम है इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता। यदि हम लोग चाहते हैं कि सुख के पीछे दुख न भोगें तो इसका विवेक मन से नहीं, बुद्धि से होगा।

मन केवल हमारी स्वीकृति के आधार पर पकड़ने का काम करता है बुद्धि पकड़े हुए को देखने का कार्य करती है इसीलिये मन से बुद्धि को सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ कहा है।

यदि हम बुद्धि युक्त होकर सत्यानुरागी हो जायें तो हमारा मन भी विषयों से विरागी हो जायगा। यदि हम असत् जड़ से विमुख होकर परमात्मा के भक्त हो जायें तो हमारा मन भी मुक्त हो जायगा। हमारे साथ ही मन का बन्धन है। जैसे हम हैं वैसा ही हमारा मन है। मन का स्वरूप न समझने तक वह चालीस सेर का है अर्थात् चालीस शेरों के समान वह अभिमानी कामी है किन्तु मन को जान लेने पर वह किसी तोल में न टिकेगा। 'मन से काम लेना बन्द कर दो मन मुक्त हो जायगा, या फिर सार्थक कार्यों को पूरा करो व्यर्थ काम मन को न सौंपो, मन शान्त हो जायगा। जिनसे राग है उनका त्याग करो, जिनसे द्वेष है उनसे प्रेम करो मन पवित्र हो जायगा' यह महाँपुरुषों की सम्मति है।

गई सो गई अब राखु रही को

अब से शुभ करना सीख लो। दोषों से डरना सीख लो

सुख की तृष्णा त्याग करो तुम, अब न किसी से राग करो तु
निज मन को आधीन बना, स्वाधीन विचरना सीख लो

लोभ मोह अभिमान हटाओ, निज को सरल विनम्र बनाओ
प्राप्त सुखों से दुखियों की अब झोली भरना सीख ल

करो सार्थक श्रम से तन को, और दान देकर निज धन को
वीर बनो कष्टों के सन्मुख धीरज धरना सीख लो

अपना सा दुख सबका जानो, परम आत्मा को पहिचानो
अवसर पर दीनों दलितों के बीच उतरना सीख लो।

इस जग को भवसागर कहते, सब बहते ज्ञानी तट गहते
तुम सुख दुख की धाराओं में निर्भय तरना सीख लो।

विधि की भूल न होने पाये, देखो जीवन व्यर्थ न जाये।
पथिक जगत में जन्म न हो अब ऐसा मरना सीख लो॥

ध्यान

हम अनेकों भावुक व्यक्ति परमेश्वर के नामों का जप अथवा कीर्तन करते हुए बहुधा यह प्रश्न किया करते हैं कि ध्यान में मन किस प्रकार स्थिर हो, ध्यान कैसे दृढ़ हो ?

गुरु ज्ञान प्रकाश में हमें यह ज्ञात हुआ कि वास्तव में ध्यान करना नहीं पड़ता वह तो स्वतः ही होता है, जो किया जाता है वह कर्म है। आसन लगा के नेत्र बन्द करके बैठना ध्यानाभ्यास भले हो जो कि मन की वृत्ति निरोध के लिये आवश्यक है परन्तु यह ध्यान नहीं है।

ध्यान के लिये केवल प्रेम होना आवश्यक है प्रेम की प्रगाढ़ता में स्वतः ही ध्यान होता है। प्रेम की प्रगाढ़ता के लिये ज्ञान आवश्यक है।

'जाने बिनु न होय परतीती। बिनु परतीति होत नहिं प्रीती ॥'

जिसे हम जान लेते हैं कि अपना है उसी के प्रति अपनत्व का भाव दृढ़ होता है अपनत्व के भाव में ही प्रीति प्रबल होती है।

वास्तव में संसार की जितनी भी देहादिक वस्तुयें हैं वे अपनी नहीं हैं, उन्हें तो हम सब लोग अविवेक पूर्वक अपना मान लेते हैं और उन मानी हुई वस्तुओं; व्यक्तियों से मोह करते हैं मोहवश ही हम अपने मन में अपनत्व के भाव से सम्पत्ति, अधिकार तथा सम्बन्ध बसाये हुए हैं, जिनका ध्यान इतना दृढ़ है कि वही परमात्मा के ध्यान में बाधक हैं।

हम लोग प्रश्न करते हैं कि परमेश्वर का ध्यान कैसे करें, यह न पूँछ करके प्रश्न तो यह करना चाहिये कि संसार का चिन्तन ध्यान

किस प्रकार छोड़ें। क्योंकि जगत की सुखद वस्तुओं का ध्यान ई जगदाधार परमात्मा का ध्यान नहीं होने देता।

मन का विषयाकार वृत्ति का मिटना ही ध्यान योग की सिद्धि है। विषयों की चाह मिटा कर इन्द्रियों को मौन करने से मन निर्विषय अवस्था को प्राप्त होता है। जो किसी को अपना आधार नहीं बनाता जो किसी का आधार नहीं बनता उसी को ध्यान योग की सिद्धि मिलती है।

संकल्प रहित होकर मन को मौन करने से, सभी अभिलाषाओं को मिटा कर बुद्धि को मौन करने से ध्यान योग पूर्ण होता है।

जो जिसका प्रेमी होता है उसके बिना उसे चन नहीं पड़ती, संसार का कुछ पाकर जिसे चैन आ जाती है वह विरागी तथा सत्यानुरागी नहीं हो सकता।

हम भगवान के ध्यान योग के लिये जिसका त्याग नहीं कर पावें उसी के प्रति हमारी प्रगाढ़ प्रीति समझनी चाहिये।

परमेश्वर के प्रेमी हम तभी अपने को कह सकते हैं जब उनके अतिरिक्त और कहीं भी चैन न लें, साथ ही जब हमारी दृष्टि दृश्य का आश्रय छोड़ कर स्थिर हो जाय, प्राण स्वाभाविक सम हो जाय चित्त निराधार होकर शान्त हो जाय, निष्कामता के द्वारा पूर्ण परितृप्त का अनुभव होता रहे—सन्त-मत में यही प्रेम योगी की सिद्धि है।

जब तक हम लोग संयोग तथा भोग से पूर्ण विरक्त न होंगे तब तक ध्यान योग नहीं होगा। विवेक दृष्टि से संयोग का अन्त वियोग, भोग का अन्त रोग देख कर ही संयोग, भोग से हम विरक्त हो सकते हैं। विचार पूर्वक दुःख की कमी रहने तक पूर्ण विरक्ति नहीं होती।

जब हम लोग अपने मन से वस्तुओं, व्यक्तियों का चिन्तन ध्यान

राग देंगे तभी यह मन परमात्मा के ध्यान में लीन हो सकेगा। जिसका ध्यान होगा उसी की प्राप्ति होगी।

सुन्दर रूप का ध्यानी सुन्दर रूप पाता है, सद्गुणों का ध्यानी सद्गुणी होता है, जिसके ध्यान में कोई रूप नहीं रहता कोई गुण भी नहीं रहता वह सर्व के प्रकाशक परमात्मा में ही अपने को नित्य अनुभव करता है।

जब तक हमें कोई दुःख दाता दीखता है, और उसी का हम चिन्तन करते हैं, जब तक हमारा मन व्यग्र रहता है, खिन्नता रहती है तब तक सुखद पदार्थों का ही अधिक ध्यान दृढ़ समझना चाहिये।

जब तक हम लोग असत्य भाषण करते हैं, किसी को सताते, दुःख देते हैं, संग्रह के लिये चिन्तातुर रहते हैं, क्रूरता, कठोरता युक्त व्यवहार करते हैं तब तक दुखद पदार्थों का ही अधिक ध्यान है, यह दोनों ध्यान छोड़ने योग्य हैं।

जब हम बुद्धि पूर्वक विचार करते हुए सुख दुख को अपने मन की मान्यता समझ कर कल्पना समझ कर सम रहते हैं, जब हम दोषों के त्याग में, इच्छाओं की निवृत्ति में परम तृप्ति का अनुभव करते हैं तथा जब हम अपने आप में सन्तुष्ट रहते हैं, किसी से बदला लेने का विचार छोड़ देते हैं, जब हम सर्वत्र गुणों को ही देखते हैं ग्रहण करते हैं, जब हम असत्य के प्रकाशक सत्य को ही सर्वत्र देखते कहते सुनते हैं, जब हम अपने सुख के लिये किसी प्राणी को दुख न देने के लिये, उसका अहित न करने के लिये सावधान रहते हैं, और जब हम सबका हित चाहते हुए सर्व हितकारी प्रवृत्ति में प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करते हैं तब सिद्ध होता है कि हमारे जीवन में धर्म का ध्यान है।

जब हमारे अन्तःकरण से अशुभ, शुभ के प्रति राग द्वेष निकल जाता है, पाप पुण्य की सीमाओं से हम ऊपर उठ जाते हैं, जब हमारा जीवन बन्धनों से मुक्त हो जाता है, आवेग उत्तेजना, विकार

के लिये स्थान नहीं रह जाता है-यही निर्विकार सत्य के ध्यान महत् फल है।

जब हमलोग बीते हुए का मनन न करें आगे की चिन्ता न क और वर्तमान में अधिक से अधिक सुन्दर सुखद संयोग पाकर क भी चैन न लें-यही सत्य अथवा परमेश्वर के ध्यान की तैयारी है

वास्तव में परमानन्द परमात्मा है परन्तु उसका हम पर तब त प्रभाव नहीं पड़ता जब तक ज्ञान न हो और ऐसे ज्ञान का भी को अर्थ नहीं दीखता जब तक हृदय से सम्बन्ध न हो; सम्बन्ध तभ होता है जब आवश्यकता होती है। आवश्यकता का ज्ञान या पूर्ण दुखी को होता है या सच्चे गुरु भक्त को होता है। आवश्य कतानुसार परमेश्वर से सम्बन्ध का ज्ञान होने पर स्वतः ही चिन्त ध्यान होता रहता है, जो किया जाता है उसका नाम कर्म है ज होता रहता है उसी को चिन्तन ध्यान कहते हैं।

हम तुम क्या, कितने महारथी इस जग में आकर चले गये।
निज कर्मों से ही नर्क स्वर्ग की राह बना कर चले गए॥
हम सबको भी चलना ही है, चलने की तैयारी कर लो।
जो पहले से तैयार न थे पछता पछता कर चले गये॥
जब सब कुछ छुट जाना ही है सबकी ममता का त्याग करो।
मूरख तो मैं, मेरी, कह के मद, मान बढ़ा कर चले गये॥
हम सबको यही देखना है कुछ अशुभ न हो शुभ ही शुभ हो।
लाखों अविवेकी शक्ति समय को व्यर्थ गवाँ कर चले गए॥
अब अपना कुछ न मान करके सब कुछ परमेश्वर का जानो।
वह पथिक धन्य, जो भक्ति मुक्ति का सत्पथ पाकर चले गए॥

आकृति और प्रकृति

'गुरु पशु, नर पशु, नारि पशु वेद पशू संसार ।
मानव सोई जानिये जाहि विवेक विचार ।।'

ज्ञान प्रकाश में हमें यह भी ज्ञात हुआ कि मनुष्य की पहिचान वल आकृति से ही नहीं वरन् उसकी भीतरी प्रकृति को देखकर आ करती है। किसी आकृति को ही मानव नहीं कहते। प्रकृति न जानकर केवल आकृति मात्र पर मुग्ध होने वाले सहस्रों क्ति धोखा खाते हैं।

कभी-कभी असुन्दर आकृति में सुन्दर प्रकृति का दर्शन मिलता और कभी कभी देखने में सुन्दर आकृति है परन्तु बहुत ही अशुद्ध लेन प्रकृति; क्रूर, कठोर हिन्सक प्रकृति का परिचय मिला ता है।

एक सुन्दर चरित्रवान् विरक्त विवेकी सर्व-हितैषी पुरुष प्रकृति से म श्रद्धेय होते हुए भी आकृति से सुन्दर सुथर नहीं दीखते और कोई प्रायः आकृति से सुन्दर दीखते हैं उनमें से बहुत व्यक्ति तरी प्रकृति से अधिकाधिक स्वार्थी, अभिमानी, लोभी, मोही लु द्वेषी प्रतीत होते हैं।

आकृति में तो वेश्या भी सुन्दर होती है परन्तु प्रकृति अथवा स्वभाव मलिनता सभी के लिये असन्तोषप्रद है, इसके विपरीत दिशा क पतिव्रता, सती, साध्वी नारी आकृति से कदाचित् असुन्दर हो परन्तु प्रकृति की सुन्दरता किस हृदय को प्रिय नहीं होती ?

ऊपर से अपने को सुन्दर दिखाने के लिये तो अनेकों बालक वान राम तथा भगवान श्री कृष्णचन्द्र का रूप बनाते और उनकी

लीला खेलते रहते हैं परन्तु प्रकृति बनाने में भला कितने को
समर्थ हैं ? सो तो सम्भवतः कोई मिलेगा ही नहीं।

हमें अपना निरीक्षण करते हुए यह देखना है कि आकृति
मानव की है पर प्रकृति में किस स्वभाव की प्रधानता है ? जहाँ
भोग की रुचि प्रबल है अर्थात् क्षुधा लगने पर, नींद आने पर, भोग
रुचि प्रबल होने प मर्यादा का ध्यान न रख कर इच्छा की पूर्ति क
यह पशुप्रकृति के लक्षण हैं।

धर्म-मर्यादा तथा कर्तव्य का ध्यान रखते हुए अपने अधिकार
भीतर नींद भूख एवं अन्य भोग की रुचि पूर्ति करना और अपने
के लिये प्रयत्न करते रहना मानवी प्रकृति के लक्षण हैं।

बुद्धि के होते हुए दूसरों के दुःख की परवाह न करके अप
रुचि पूर्ति में सन्तुष्ट होना धन मान, भोग के लिये न करने यो
कर्मों को भी करते रहना शास्त्र सन्त सद्गुरु, भगवान को
मानना यही आसुरी प्रकृति के लक्षण हैं।

धन, मान, भोग, अथवा सांसारिक वैभव ऐश्वर्य से विरक्त
कर सर्व प्राणियों के हित में संलग्न रहना, अपने सुख के लिये कि
को दुःख न देना, सर्वदा अभय निश्चिन्त, शान्त, सर्वदा प्रसन्न र
कर सबको प्रसन्न रखना यह मानव आकृति में दैवी प्रकृति
लक्षण हैं।

हमें ध्यान देकर देखना चाहिये कि मानव आकृति में मानवी प्रकृ
का कितना विकास हुआ है, दैवी प्रकृति के कितने लक्षण मिलते हैं
साथ ही आसुरी प्रकृति कितनी प्रबल है और पशु प्रकृति कहाँ-कहाँ
प्रधान बन रही है।

आकृति का दर्शन तो बाह्य नेत्रों के द्वारा होता है प्रकृति क
ज्ञान बुद्धि-विवेक द्वारा होता है। आकृति को स्वच्छ रखना पशु पक्षी
भी जानते हैं किन्तु प्रकृति को अथवा भीतर के स्वभाव को शुद्ध
रखने का विवेक पशु-पक्षी में नहीं होता वह तो मानव में ही होता है।

मानव की आकृति पशु जीवात्मा को केवल आकृति चिन्तन से ही
ल जाती है, कोई पशु अपने मालिक को पहिचानता है तो प्रकृति
नहीं वरन आकृति से ही पहिचानता है मानव आकृति का स्नेह
से आकृति प्रदान करता है इसी लिये जो जीवात्मा पशु शरीर छोड़
र मानव आकृति में आता है उसमें आकृति के पीछे पशु प्रकृति की
तनी अधिक प्रबलता होती है कि सज्जनों के संग से सदुपदेश ले
ो सहज में परिवर्तन नहीं होता। मानव शरीर में अनेकों जन्म बिता
ने के बाद क्रमशः मानवी गुणों का विकास होता है; मनोमय कोष,
ज्ञान मय कोष, जितने अधिक बलवान होते जाते हैं उतनी ही
धिक भाव तथा विचार करने की शक्ति बढ़ती जाती है; सद्गुण
वं ज्ञान के प्रति ग्रहण शीलता बढ़ती जाती है; यही कारण
कि गुरूजनों का उपदेश एक समान अनेकों व्यक्ति सुनते हैं पर एक
मान न तो समझ पाते हैं, न आज्ञानुसार साधन-पथ में चल पाते
ं, मानव आकृति में यही प्रकृति भेद है।

हम लोग अपने बाह्य रूप को सरलता से स्वच्छ कर लेते हैं,
सका श्रृंगार भी कर लेते हैं परन्तु भीतरी अन्तः करण को निर्मल
नाने और उसको सुन्दर सद्गुणों से सजाने का यदि प्रयास नहीं करते
ो यह मानवी बुद्धि का घोर अनादर है। पशु में अपने स्वभाव को
ुन्दर बनाने की बुद्धि नहीं है, पशु को अपने दोषों का, भूलों का ज्ञान
हीं होता पर मनुष्य को होता है फिर भी यदि मनुष्य होकर हम
पने दोषों को, भूलों को दूर नहीं करते तो अपने में पशु प्रकृति तथा
ासुरी प्रकृति को ही परिपुष्ट करते जा रहे हैं यही जीवन का
िरादर है।

जिस प्रकार हम लोग—चाहे नारी हों या नर हों—अपनी देह को
पवित्र नहीं रहने देते कहीं भी अशुद्ध घृणित वस्तु के लग जाने पर
ल से स्वच्छ करते हैं किसी वस्त्र में भी यदि दूषित वस्तु लग जाती
ै तो उसे भी यथाशक्ति शीघ्र ही धोकर साफ करते हैं उसी प्रकार

हम सबको चाहिए अपने मन में क्रोध, लोभ, ईर्ष्या द्वेषादि वि
आने न दें, यदि धोखे से इन दोषों का स्पर्श हो जाय तो शीघ्र
इन्हें अपने अन्तःकरण से दूर कर दें तभी हम सब की प्रकृति सु
शुभ, पवित्र हो सकती है।

आकृति की सुन्दरता पर कोई कामी भोगी ही सन्तुष्ट हो
प्रकृति की पवित्रता पर तो मनुष्य की कौन कहे, देवता ही नहीं स
भगवान भी रीझ जाते हैं।

संसार में जितने भी भक्त, सन्त, महापुरुष नाम से विख्यात
जिनकी स्तुति-पूजा मानव समाज के द्वारा होती आई है आज भी
रही है वह आकृति की सुन्दरता से नहीं बल्कि अन्तर स्वभाव विच
रूपी प्रकृति की सुन्दरता पवित्रता के कारण जगत पूज्य हो रहे हैं

यदि हमें समाज के बीच में रहना है तो असुन्दर अपवित्र हो क
रहना भारी अपराध है सुन्दर पवित्र होकर रहना पुण्य है। हमे
जीवन में जितने भी कष्ट हैं दुख हैं प्रतिकूलतायें हैं वे सब अप
असुन्दर अपवित्र स्वभाव, व्यवहार, विचार के ही कारण हैं। ह
दूसरों की सुन्दरता पवित्रता देखकर कुछ देर के लिये भले ही प्रस
हो जाँय परन्तु स्थाई स्वतन्त्र प्रसन्नता हमें तभी सुलभ होगी जब ह
अपनी आकृति के साथ अभ्यन्तर प्रकृति को भी सुन्दर पवित्र बना लें

हम सुन्दर अति सुन्दर पवित्र को देख सकते हैं उसके गीत गा
रह सकते हैं परन्तु स्वयं सुन्दर पवित्र हुए बिना उस सुन्दर क
योगानन्द नहीं प्राप्त कर सकते। हमें इतना सुन्दर पवित्र होना है कि
सौंदर्यनिधान प्रभु स्वयं हमें प्यार करने लगें।

पशु प्रकृति में देहाभिमान रहता है। आसुरी प्रकृति में गुण तथ
शक्ति का अभिमान रहता है। मानवी प्रकृति में भक्त होने का, सेवक
होने का अभिमान रहता है। दैवी प्रकृति मे किसी प्रकार का अभि-
मान नहीं रहता है।

पशु प्रकृति में शरीर तथा इन्द्रिय व्यापार की प्रधानता होती है,

आसुरी प्रकृति में कर्म के साथ मनोभावों की प्रधानता, मानवीय प्रकृति में क्रिया के ऊपर भाव, तथा भाव के ऊपर बुद्धि-विचार, विवेक की प्रधानता और देवी प्रकृति में भाव विवेक के ऊपर निष्काम प्रेम की प्रधानता होती है।

पशुप्रकृति को दम से, आसुरी प्रकृति को शम से, मानवी प्रकृति को विचार से और देवी प्रकृति को विनय प्रेम से स्ववश करना चाहिये।

इन्द्रियों को जीत लेना पशु प्रकृति को स्ववश करना है, मन को स्ववश रखना ही आसुरी प्रकृति पर विजयी होना है ; बुद्धि को समस्थित बना लेना ही मानवी प्रकृति को सार्थक कर लेना है और सर्वाश्रय त्याग कर निर्भय तथा चिन्ता मुक्त होकर अखण्ड शान्ति का अनुभव करना यही देवी प्रकृति का अवतरण है।

दिव्यता मानवता में ही उतरती है असुरता तथा पशुता में नहीं। मानवता ही दिव्यता को खोजती है पशुता दानवता नहीं।

सन्त वचन—जहाँ कोई दोष नहीं होते, जिसमें कोई भूल नहीं होती वह मानव जीवन नहीं, वह तो ईश्वरीय जीवन है। जहाँ दोष हैं भूलें हैं किन्तु उनका ज्ञान नहीं, वह भी मानव जीवन नहीं। जहाँ दोषों का भूलों का दुख पूर्वक ज्ञान है और दोषों तथा भूलों के रहते चैन नहीं आ रही है यही मानव जीवन है।

दोषों को भूलों को जानना और उन्हें मिटाने का सतत् प्रयत्न करना ही मानवता है।

सभी दुर्बलताओं दोषों की निवृत्ति मानव जीवन की माँग है।

मानवी प्रकृति सद्ज्ञान एवं सद्गुणों को अपनाने से परिपुष्ट होती है, देवी प्रकृति समत्व पर और आसुरी प्रकृति वस्तु व्यक्ति ममत्व पर टिकती है। जहां सभी प्रकार की शक्ति का सदुपयोग है सद्विवेक का आदर है वहीं मानवी प्रकृति है।

'खान पान सुख भोग में पशु भी परम सुजान।
काह अधिकता मनुज की जो न भजे भगवान ॥'

आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्य मेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हितेषो मधिको विशेषो धर्मेण हीना पशुभिः समानाः ॥

अपना आहार प्राप्त कर लेने में, हानि तथा नाश की आशंका भयातुर होने में तथा विषयभोग में निद्रा के रस लेने में पशु और मनु बराबर हैं किन्तु मनुष्य में यदि कोई विशेषता है तो धर्म ज्ञान की धर्म-ज्ञान से रहित मनुष्य आकृति से मनुष्य होते हुए भी प्रकृति पशु के समान है।

त्याग, ज्ञान तथा प्रेम की पूर्णता ही मानव जीवन की पूर्णता है इन की कमी ही मानव जीवन में कमी है; इसका कारण राग है अज्ञान है और द्वेष है।

मानव जीवन में जितना ही भोगों की अधिकता होती है उतनी ही जड़ता, पराधीनता, शक्तिहीनता आती है।

मानव जीवन तो मुक्त जीवन के योगानुभव के लिये मिला है; सब प्रकार की चाहों का अन्त करना मानव जीवन का सदुपयोग करना है।

पशु प्रकृति में भोग-सुखों के प्रति आसक्ति प्रबल रहती है।

आसुरी प्रकृति में मान और धन की कामना प्रबल रहती है।

मानवी प्रकृति में ज्ञान और मोक्ष की अभिलाषा प्रबल रहती है।

दैवी प्रकृति में त्याग, दान, प्रेम की पूर्णता होती है।

हम प्रकृति के भोगी बनकर ही पतित हुए हैं अब प्रकृति की सेवा के द्वारा सुन्दर बनाकर पुरुषोत्तम पद के योगी हो सकते हैं।

निरीक्षण

अरे मित्र तुमने अभी तक किया क्या।
किया कुछ तो बदले में उसके लिया क्या॥

लिया जो भी कुछ वह रहेगा कहाँ तक।
विनाशी को लेकर जिया तो जिया क्या॥

नहीं हो सकी तृप्ति जिससे किसी की।
ये इन्द्रिय विषय रस पिया तो पिया क्या॥

तनिक ध्यान देकर के यह देख लेना।
जो परलोक में मिल सके, वह दिया क्या॥

पथिक दीन दुखियों का दुख देख कर के।
दया से द्रवित जो न हो वह हिया क्या॥

हमारा अमूल्य प्रेम किसका मूल्य होना चाहिये ?

'तुलसी तैं झूंठो भयो करि झूठे सँग प्रीति।
है साँचो हो साँचु जब गहै राम की रीति॥

कहा होत देखे कहे सुनि समझे सब रीति।
तुलसी जब लग होत नहि सुखद राम पद प्रीति॥

दुर्लभ झाँकी प्रेम की जिन झाँकी ते धन्य।
उपजत बिनसत जगत में जड़ पशु सम सब अन्य॥'

गुरु ज्ञान प्रकाश में हमें यह भी विदित हुआ कि हमारे लिये वही व्यक्ति या वस्तु सुन्दर मनोहर है जिसका हम अपने से अधिक मूल्य बढ़ा देते हैं।

एक समय ऐसा भी था जब हमने छोटे-छोटे रंगीन खिलौनों का मूल्य बढ़ा दिया था तब वे खिलौने हमें स्वर्ण मुद्राओं (मुहरों) से भी अधिक सुखद सुन्दर प्रतीत होते थे उनके न मिलने पर हम उसी प्रकार दुखी होकर आँसू बहाते थे जिस प्रकार आज बहुत बड़ी सम्पति के लुट जाने पर या प्रिय का वियोग हो जाने पर रोते विलखते हैं।

आज हम लोग खिलौने के लिये नहीं दुखी होते उनके टूटने फूटने पर शोक नहीं मनाते क्योंकि उनका मूल्य हमारी दृष्टि में अब नहीं रह गया है; अब हम दूसरी वस्तुओं का मूल्य बढ़ा चुके हैं और उनके संयोग में और वियोग में उसी भाँति हर्षित शोकित

होते हैं जिस प्रकार बाल्यावस्था में खिलौने के पीछे हर्षित शोकित होते थे।

हम माता-पिता स्त्री पुत्र पति पत्नी मित्र सुहृद आदि किसी सम्बन्धी के संयोग का जितना अधिक मूल्य बढ़ा देते हैं उतना ही अधिक उससे सुख की प्रतीति और वियोग में दुःख की प्रतीति होती है, जितना अधिक किसी प्रकार की सम्पत्ति लाभ का मूल्य बढ़ा देते हैं उतना ही अधिक उसकी हानि की वेदना होती है, इसी प्रकार जितना ही अधिक हम किसी अधिकार तथा सन्मान प्राप्ति का मूल्य बढ़ा देते हैं उतना ही अधिक अधिकार के छिन जाने पर या अपमान होने पर दुःख की अनुभूति होती है। ज्ञान की कमी के कारण हम अपने सुख का और दुःख का कारण किसी न किसी वस्तु को या व्यक्ति को मानते हैं इसी आधार पर सुखदाता मान कर वस्तु व्यक्ति के रागी और दुःख दाता मान कर द्वेषी बनते हैं परन्तु यह नहीं समझ पाते कि बाहरी वस्तु या व्यक्ति सुखदाता या दुःख-दाता नहीं है बल्कि हमने ही जिसका मूल्य अपने से अधिक बढ़ा दिया है उसका संयोग सुखद प्रतीत होता है यदि मूल्य घटा दें तो वह कुछ भी सुखद न रह जायेगा और तब दुःख की प्रतीति भी न होगी।

जब तक हम अपने स्वरूप की महत्ता को सुन्दरता को नहीं जानते तभी तक देहादिक पदार्थों का मूल्य बढ़ा कर इनकी कल्पित सुन्दरता पर मोहित होते हैं; इसी प्रकार जब तक हम परमेश्वर की सत्ता महत्ता को नहीं जानते तभी तक संसार का मूल्य बढ़ा कर उसके शासन को स्वीकार कर परतन्त्र बने रहते हैं।

परमेश्वर की सत्ता महत्ता को जान लेने पर ही हम संसार के मोह ममता से मुक्त हो सकते हैं और अपने स्वरूप की पूर्णता महत्ता को जान कर हम देह इन्द्रिय मन की दासता से छूट सकते हैं।

हमें जो प्रेम मिला है वह सनातन सत्य से मिला है उस प्रेम

के द्वारा यदि हम सनातन सत्य के गुणों को ही देखें तो सदा प्र
रह सकते हैं परन्तु ऐसा न करके हम असत्य को सत्य
बैठते हैं।

एक पुत्र को माता-पिता बहुत ही प्रिय हैं एक पुरुष को अप
प्रेमिका अथवा प्रेमिका को अपना प्रियतम बहुत ही सुन्दर प्रतं
होता है. एक शिष्य अपने गुरु से सबसे अधिक प्रीत करने लगता
एक सेवक को अपना स्वामी सर्वोपरि श्रेष्ठ दीखता है वह इसी लि
कि परस्पर सम्बन्ध के पीछे, देखने की दृष्टि के पीछे प्रेम है। अ
देखना यह है कि वास्तव में किसी न किसी प्रकार की सुन्दरता
ही प्रेम होता है वह सुन्दरता चाहे बाह्य रूप की हो या किसी गु
की हो अथवा स्वभाव की हो; संसार में जो कुछ भी सुन्दर है व
सत्य ही से प्रकाशित है और सनातन है। जिसकी समझ में यह अ
जाता है कि सुन्दर गुणों का सद्भावों का, सद्ज्ञान का कभी ना
नहीं हो सकता. आकृति भले ही बदल जाती है पर संसार में सद्गुण
सद्भाव सद्ज्ञान सदा किसी न किसी रूप में विद्यमान ही रहते
हैं—उसी प्रकार विद्यमान रहते हैं जिस प्रकार भिन्न भिन्न रंगीन
बल्बों के टूट जाने पर विद्युत शक्ति विद्यमान रहती है। कोई विचार-
वान् प्रकाश का प्रेमी काँच के बल्ब (लट्टू) टूट जाने पर शोक नहीं
मनाता रहता बल्कि उसी प्रकाश को दूसरे बल्बों द्वारा प्राप्त करके लाभ
उठाता रहता है; इसी प्रकार जिस दया को, जिस कोमलता, सरलता,
उदारता, नम्रता, प्रसन्नता, मधुरता को किसी व्यक्ति में, पुत्र, पति,
पत्नी, भाई, मित्र आदि सम्बन्धियों में देख कर मोहित होते हैं उन
सम्बन्धियों के शरीर भले ही नष्ट हो जाँय पर सद्गुण सद्भाव नहीं
नष्ट हो सकते, अतः हम सबको किसी सम्बन्धी के वियोग में शोक न
मनाना चाहिये क्योंकि जिन सद्गुण, सद्भाव, सद्ज्ञान के कारण
वह सम्बन्धी प्रिय था वह सभी सद्गुण सद्भाव दूसरे व्यक्ति में
मिल जाँयगे या वह सभी सुन्दर मनोहर आकर्षक बातें अपने में ही

ाशित की जा सकती हैं परन्तु अविवेक वश हम सनातन सद्गुणों
द्भावों के प्रति प्रेम न करके असत् नाम रूप आकृति के प्रति प्रेम
ने लगते हैं और जब उसका वियोग होता है तब शोक मनाते हैं,
लाप करते हैं,जिस प्रकार कोई प्रकाश का प्रेमी बल्ब के टूट जाने पर
काश की सत्यता तथा उसे प्राप्त की जाने वाली स्वाधीनता को भूल कर
लाप करता है— यह कितनी मूर्खता है। प्रेम होना चाहिये सद्गुणों
द्भावनाओं तथा विवेक से, न कि शरीर से; क्योंकि शरीर तो
सी समय नष्ट हो सकता है पर सद्गुणों का नाश नहीं होता।

हम अपने प्रिय सम्बन्धी के वियोग में यह सोच सोच कर
ति दुखी होते हैं कि हमारा प्रिय सम्बन्धी हमारी बहुत सेवा करता
ा बहुत मीठे बचन बोलता था, वह हमारे ऊपर बहुत ही प्रेम करता
ा,हमें अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु दे देने में कहीं लोभ न करता था,
ह हमारी कटुता-कठोरता को भी सह लेता था इत्यादि बातों को
मरण करके ही तो हम दुखी होते हैं? यहां पर यही प्रश्न है कि
ह सम्बन्धी हमें क्यों अति प्रिय लगता है, तो इसका उत्तर यही है
के उसमें सुन्दर गुण थे, सुन्दर स्वभाव था, सुन्दर विवेक था। अब
यहाँपर हमें यही सद्प्रेरणा मिलती है कि हम लोग भी अपना स्वभाव
सुन्दर बनायें, सद्गुणों को ही पुष्ट होने दें। दूसरों के सद्गुणों से,
अच्छे स्वभाव से हमें कुछ देर को सुख भले ही मिल जाये पर शान्ति
तो दोषों के त्याग से सद्गुणों के व्यवहारिक अभ्यास से मिलेगी।
जिस सुन्दरता पर हम मुग्ध होते हैं यदि वही सुन्दरता हममें
आसकती है तो अवश्य ही उसे अपने में लाना चाहिये। हम उसी से
प्रेम करें जो हमें स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त हो सकता है जिसे हम सदा
अपने संग रख सकते हैं। हम शरीर आदि सांसारिक वस्तुओं को
स्वाधीनतापूर्वक सदा अपने साथ नहीं रख सकते, दैवीगुणोंको, ज्ञान
विवेक को, स्वतन्त्रता पूर्वक अपने में धारण कर सकते हैं। जिन
सद्गुणों को हम दूसरों में देखकर मुग्ध होते हैं उन्हें अपना स्वभाव

बना सकते हैं; हम विनम्र, दयालु क्षमाशील सन्तोष धीर गम्भीर विवे
हो सकते हैं।

हमारा प्रेम तुच्छ विनाशी वस्तुओं के लिये न होना चाहिये ज
हमसे किसी समय भी हटाया जा सकता है, उसकी प्राप्ति में ह
आनन्द न मानना चाहिये, हमें सांसारिक वस्तुओं का लोभी मोह
अभिमानी न होना चाहिये।

सन्त वचन—

'विद्या वित्त सरूप गुण सुत दारा सुखभोग।
नारायण हरि भक्ति बिन यह सबही हैं रोग॥
प्रेम छुटावै जगत को प्रेम मिलावै राम।
प्रेम करै गति और ही लै पहुँचे हरिधाम॥'

संसार के जितने भी सुख या दुख हैं वह हमारी मान्यता के
अनुसार प्रतीत होते हैं, ज्ञान की कमी के कारण हम इन्द्रियों से
प्रतीत होनेवाले पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानते नहीं बल्कि
जैसा सुनते हैं वैसा ही मान लेते हैं इसी कारण से जो असत् दृश्य
का प्रकाशक सत्य है उसे जाने बिना दुख सुख के ही बन्धन में जीवन
नष्ट करते रहते हैं।

अपने जीवन के साथ मिले हुए प्रेम को हम जिस वस्तु के साथ,
जिस व्यक्ति के साथ, जिस अवस्था तथा जिस परिस्थिति से मिला
देते हैं वही सुखद सुन्दर प्रतीत होने लगती है। इस प्रेम की महिमा
ही ऐसी है कि इसे साथ लेकर जिस शब्द को, जिस स्पर्श को, जिस
रूप को, अथवा गन्ध को या जिस रस को देखा जायगा स्वीकार
किया जायगा वही सुन्दर न होने पर भी सुन्दर मनोहर प्रतीत होगा
और इस प्रेम को जहां कहीं से हटा लिया जायगा वही असुन्दर
नीरस दुखद प्रतीत होगा।

संसार में न कुछ सुखद है न दुखद है प्रेम का योग ही सुखद है और

वियोग ही दुखद है; यदि हम अपने प्रेम को अपने से भिन्न वस्तु में आवद्ध न करें तो कभी वियोग का अनुभव हो ही नहीं सकता; जब हम अपने प्रेम को उस वस्तु के साथ जोड़ देते हैं जो सदा हमारे साथ नहीं रह सकती तब हम उसी समय दुखी होते हैं जब उस सम्बन्धित वस्तु का वियोग होता है; चूंकि हमने उस वस्तु के साथ प्रेम को जोड़ दिया है इस लिये वस्तु के अभाव में हम अपने में प्रेम का भी अभाव सा अनुभव करते हैं तभी व्यथित होते हैं। यदि हम अपने प्रेम को ऐसी वस्तु से सम्बन्धित कर लें जिसका कभी अभाव नहीं हो सकता, कभी वियोग नहीं हो सकता तो हमें कभी दुख की वेदना नहीं देखनी पड़ेगी।

हमारे पास प्रेम ही तो अमूल्य निधि है और उसे हम निस्सार सुख के लिये, विनाशी वस्तुओं में देते रहते हैं उसी प्रेम के योग से नीरस भी रसमय प्रतीत होता है, जो अपना नहीं है वह अपना दीखता है।

प्रेम ही वह महान मूल्य है जिसे हम चाहे भोग सुखों के लिये लगाते फिरें चाहे योगानन्द प्राप्त कर लें। इस प्रेम को चाहे हम विनाशी वस्तुओं से मिला कर मोह के रूप में लोभ के रूप में अभिमान के रूप में परिणत कर दें चाहे इस विनाशी देह तथा सम्पत्ति एवं अधिकार से हटा कर हम अपने आप में शाश्वत आनन्द को प्राप्त कर लें।

हमें अपने जीवन में जो सबसे महान कार्य करना है वह यही है कि अपने प्रेम को हम सांसारिक देहादिक संयोगों से मुक्त कर लें और सुख दुख के बन्धन से मुक्त हो जायें; इस महान कार्य को हमारे अतिरिक्त दूसरा कोई कर ही कैसे सकेगा क्योंकि जो दोष हमने बनाया है वह हमको ही मिटाना है और हम जब चाहें तो सहज ही मिटा सकते हैं; सन्त सदगुरु तथा प्रभु-कृपा हमारे इस

महान कार्य की पूर्ति में सदा सहायक हैं पर हम उनकी कृपा तिरस्कार करते रहते हैं।

अब हमें इस बात को सदा स्मरण रखना है कि मन से ह उसी का स्मरण करते हैं, चित्त में उसी का चिन्तन होता है; बुि से हम उसी के विषय में अधिक विचार करते हैं और हृदय में उस का ध्यान रहता है जिसका हमने प्रेम पूर्वक मूल्य बढ़ा रक्खा है।

अब हमें यही निर्णय करना है कि जब किसी वस्तु का अपने अधिक मूल्य बढ़ा देने से ही उसका स्मरण चिन्तन ध्यान सहज होने लगता है और जिसका स्मरण, चिन्तन, ध्यान होता है, उसी सम्बन्ध दृढ़ होने के कारण तद्रूपता प्राप्त होती है तब हमें चाहि कि यदि अपने से अधिक मूल्य बढ़ायें तो विनाशी वस्तु का नह बल्कि अविनाशी सत्य का मूल्य बढ़ायें, देह का नहीं बल्कि चिन्म स्वरूप आत्मा का मूल्य बढ़ायें; जो हमसे दूर है उसका नहीं बलि जो हमसे कभी भिन्न नहीं होता उसका मूल्य बढ़ायें, परिवर्तन शी पराश्रित सुख का नहीं बल्कि शाश्वत सत्य परमानन्द का मूल्य बढ़ायें हम जिसका मूल्य बढ़ायेंगे उसीसे तन्मयता प्राप्त करेंगे।

जीवन यूँ ही बीत न जाये

जग में पशु भी खाते सोते, स्वार्थ-पूर्ति में सकुशल होते
वह मानव क्या ? भोग सुखों में ही जो शक्ति गँवाये।

मित्रो सावधान अब रहना, जो कुछ दुख आए वह सहना
धैर्य-पूर्वक सह लेना ही मन का तप कहलाए।

कभी किसी को कष्ट न देकर, हित-प्रद सेवा का व्रत लेकर
निज कर्तव्य निभाते चलना, पर अभिमान न आये।

भूल की भेंट

'आपुहि मद को पान करि आपुहि होत अचेत ।
तुलसी विविध प्रकार को दुख उतपति एहि हेत ॥'

ज्ञान प्रकाश में ही हमने यह भी देखा कि जीवन में जितनी हानियाँ हैं वह सब भूल की भेंट हैं । भूल की भेंट प.भी कभी व बड़ी हानियों के द्वारा, विविध कष्टों के द्वारा चुकानी पड़ती है । भ होने के अनेकों कारण होते हैं, उनमें से मुख्य कारण अपने परमा परमात्मा से विमुख होना अथवा उसे भूल कर असत्य परिवर्तनशी जगत दृश्य के सम्मुख होना है । इस प्रथम भूल की भेंट में ज कितने जीवन देने पड़ते हैं ।

भूल का मूल अज्ञान है; अज्ञान, ज्ञान की कमी को कहते हैं अपने स्वरूप को न जानना, संसार के कार्य और कारण को न जान तथा सत्य परमात्मा को न जानना ही अज्ञान है; ज्ञान की कमी है ।

अपने आप को, जगत को और जगदाधार को जानना ही ज्ञा की पूर्णता है । ज्ञान की पूर्णता में ही असत् सुखों से भोगों से विर और सत्य के प्रति ही पूर्ण अनुरक्ति होती है तभी भूलों की निवृत्ति मिलती है ।

सत्य को भूलकर हम निस्सार सुखों के रागी बने हैं, देहाभिमानी धन के लोभी सम्बन्धियों के मोही बने हैं ।

लोभ, मोह. अभिमान आदि दोषों के कारण ही अनेकों अपरा पाप बनते रहते हैं, समस्त दुःख अपने अपराधों, पापों के कारण प्रतीत होते हैं ।

यदि हम सत्य परमात्मा को न भूलें अथवा अपने सत्स्वरूप को

न भूलें, जगत-सुखों की नश्वरता को न भूलें, तो हमसे कहीं भूल हो ही नहीं सकती और फिर हानि के लिये जीवन में कोई स्थान ही नहीं रहता। जहाँ हानि की आशंका नहीं, वहाँ भय नहीं और दुख भी नहीं।

जब हम सत्य को न भूलेंगे तब स्वधर्म को, स्वकर्तव्य को भी न भूलेंगे; स्वधर्म स्वकर्तव्य को भूलकर ही हम पर-धर्म का तथा दूसरों के कर्तव्य का, आश्रय लेते हैं, यही हमारी परतन्त्रता का, पराधीनता का कारण है; इससे अनेकों दुःख देखने पड़ते हैं।

सत्य वही है जो हमारा कभी त्याग नहीं करता, उसी को जान कर फिर कभी न भूलना ही स्वधर्म है इस स्वधर्म में बुद्धि को स्थिर कर लेना संसार से कुछ न चाहते हुए संसार की सेवा करते रहना स्वकर्तव्य है।

जिसमें कोई भूल ही नहीं होती वह भगवान है, जिसमें भूल तो होती है पर उसका ज्ञान नहीं होता वह पशु है, जिसमें भूल होती है, भूल का प्रायः ज्ञान भी होता है परन्तु भूल होने का दुःख नहीं होता वह असुर है; जो अपने में भूलों को जानकर उन्हें दूर किये बिना चैन नहीं लेता वही मनुष्य है।

जो मनुष्य जितना ही अधिक अहंकारी है, अभिमानी है, मोही, लोभी, द्वेषी तथा क्रोधी एवं सुखासक्त है, उतना ही अधिक भूला हुआ है।

अपने परम-लक्ष्य को न जानना, जो कुछ तन, धन या किसी प्रकार की योग्यता प्राप्त है उसका सदुपयोग न करना यह बुद्धि के स्तर की भूल है; माता, पिता पत्नी, पति पुत्री आदि के प्रति हित-कारी कर्तव्य न पूरा करना केवल उनसे अपनी रुचि की पूर्ति करते रहना, उनके अधिकार का ध्यान न रखकर अपने अधिकार को मांगते रहना यह मन के स्तर में अशुद्ध भाव की भूल है; शरीर में

बल के रहते हुए कर्तव्य कर्मों में परिश्रम न करना आलस्य में सम नष्ट करना यह देह के स्तर की भूल है।

यदि हम दुखों तथा बड़ी-बड़ी हानियों से अपने को बचाना चाह हैं तो पहुँचे हुए सन्त का यह सन्देश है कि हमें अपने शरीर परिश्रमी बनाना चाहिए, जहां तक हमारे सामने अवकाश है अप काम अपने हाथों कर लेना चाहिये, कभी कभी हम एक गिला पानी भी अपने हाथ से उठाकर नहीं पी पाते, दूसरों से काम ले लेते वैसा ही अभ्यास दृढ़ हो जाता है, आलस्य बढ़ता जाता है श्रम की कमी से शरीर रोगी अति क्षीण या अधिक स्थूल हो जात है, स्नायुजाल निर्बल हो जाते हैं; परावलम्बन की अधिकता से चिड़ चिड़ापन, क्रोध, स्वभाव में कठोरता, वाणी में कटुता बढ़ जाती है इसके कारण अनेकों अपराध बनते रहते हैं।

श्रमी का शरीर प्रायः बलवान निरोग रहता है वह अधिकारियों की सेवा में दक्ष रहता है। श्रमी सबको प्रिय हो सकता है और पुण्य का भागी बनता है।

जो व्यक्ति अपने स्नान के लिए दो चार घड़े पानी नहीं भर सकता, अपनी धोती नहीं धो सकता, इसी प्रकार के छोटे-छोटे काम अवकाश तथा शक्ति के रहते हुए नहीं कर सकता वह अवश्य आलसी है शारीरिक बल का दुरुपयोग करने वाला है यह शरीर द्वारा होने वाली भूल है और इसकी भेंट असमय रोग तथा अन्यान्य कष्टों द्वारा चुकानी पड़ती है।

आज सहस्त्रों विद्यार्थी युवक तथा युवती बालिकायें शरीर से श्रम न करने के कारण ही दुर्बल, रोगी, तथा आलसी हैं, जिनके द्वारा सेवा लेने की, काम कराने की आशा करना दूर रहा उलटा उन्हीं के काम करने पड़ते हैं और धनी घरों में तो प्रायः डाक्टर वैद्य बुलाते रहना पड़ता है।

जो बालक विद्यार्थी कुछ परिश्रम करते हैं नित्य कुछ दौड़ धूप

के कार्य करते हैं जो बालिकाय घर में पानी भरना, झाड़ देना, बर्तन धुलना, कुछ चक्की पीसना इत्यादि शारीरिक श्रम करती हैं उनके शरीर सेवा के लिये दृढ़ और निरोग हृष्ट पुष्ट दीखते हैं।

श्रम के साथ सन्त जन मन को संयमी होने की सम्मति देते हैं जिसका शरीर श्रमी होगा वही संयमी हो सकेगा; शरीर से श्रम और मन में संयम होना शक्ति के लिये अत्यावश्यक है; जो मन में संयम नहीं रख पाता उसीकी इन्द्रियों में विशेष चञ्चलता रहती है।

असंयमी व्यक्ति चरित्रवान् नहीं होता उसकी शक्ति कहीं शब्द में, कहीं रूप में, कहीं स्पर्श, कहीं स्वाद में, रसासक्त होने के कारण निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। असंयमी मन इतना चञ्चल रहता है कि व्यवहार में अनेकों भूलें होती रहती हैं। स्मृति शक्ति अधिक क्षीण होती है, इसीलिये समय पर कार्य विधिपूर्वक पूरे नहीं होते कभी वस्तुओं के रखने में भूल होती है कभी उठाने में भूल होती है कभी लेने तथा देने में भूल होती रहती है इसके कारण वस्तुओं की हानि, धन हानि मान-हानि उठानी पड़ती है। असंयमी मन जिसे स्मरण रखना चाहिये उसे विस्मरण कर देता है और जिसे विस्मरण रखना चाहिये उसे बार बार स्मरण करके रागी द्वेषी चिन्तित खिन्न होकर व्यर्थ समय शक्ति नष्ट करता है।

असंयमी की शक्ति का प्रवाह अधोमुखी रहता है संयमी की शक्ति की गति ऊर्ध्वमुखी होती है; जो अपनी वाणी को संयम में रखता है किसी की निन्दा नहीं करता है, व्यर्थ वार्ता नहीं करता झूठ भी नहीं बोलता और कठोर कटु वचन नहीं बोलता वह संयमी पुरुष है।

जो व्यर्थ वार्ता नहीं सुनना चाहता, किसी की निन्दा सुनना अपराध मानता है जो सार्थक बोलता है और आवश्यक सुनता है, जो व्यर्थ चेष्टा नहीं करता, सार्थक काम पूरा मन लगाकर करता

है, जो आलस्य से बैठे रहना; लेटे रहना पसन्द नहीं करता, ि
चोरी, व्यभिचार दुराचार से दूर रहता है वही संयमी पुरुष है-
पुरुष की बुद्धि बलवती होती है। श्रम, संयम के साथ चि
विरागी रखने की भी सन्त तथा शास्त्र की सद्प्रेरणा है क
संयमी में इतना विचार बल जाग्रत हो जाता है कि उसे संस
विषय सुख परिणाम में महादुखदाई दीखने लग जाते हैं।
की पूर्णता चित्त के विरागी होने पर होती है। रागी चित्त सत्य
नहीं होता। सारी बुराइयों की जड़ राग है, राग के कारण ही
अशुद्ध रहता है, चञ्चल रहता है, रागी चित्त बुद्धि को स्थिर
होने देता। विराग हुए बिना परमार्थ द्वार में किसी का
नहीं होता।

जिस प्रकार श्रम की कमी में क्रिया सम्बन्धी भूलें होती
संयम की कमी में विधि युक्ति सम्बन्धी भूलें होती हैं।
प्रकार विराग की कमी में भाव सम्बन्धी भूलें होती हैं।

सुख के प्रति अथवा सुखद वस्तुओं व्यक्तियों के प्रति राग
प्रबलता में भाव पवित्र नहीं रहता स्वार्थ प्रबल रहता है। अपने
लाभ की ही चिन्ता रहती है यही भाव की अशुद्धि है। कठिनता
संयम के द्वारा सञ्चित की हुई शक्ति रागी चित्त होने के कारण
चल कर भोगमय प्रवृत्ति में क्षीण हो जाती है। भाव सम्बन्धी
होने के कारण परलोक के लिये कुछ नहीं बन पाता। राग वश
बड़ी-बड़ी भूलें होती हैं।

श्रम की कमी से जो भूलें होती हैं उनका परिणाम शरीर
भोगना पड़ता है, असंयम से जो भूलें होती हैं उनका परिणा
परिवार को भोगना पड़ता है किन्तु राग वश जो भूलें होती हैं उनक
परिणाम जाति को समाज को भोगना पड़ता है; जितनी बड़ी भू
होगी उतनी बड़ी हानि, उतना ही अधिक अपराध, पाप बढ़

सीलिये हम सबको भयानक भूलों से बचने के लिये विचारपूर्वक
ोगों से विरागी होना चाहिये।

विरागी होने के लिये बुद्धि का विवेकी होना परमावश्यक है,
वेक न होने के कारण ही हम लोग अपने दैनिक कृत्यों के परिणाम
ो नहीं देखपाते जिस सुख में मोहित होकर वस्तुओं व्यक्तियों के रागी
नते हैं उसके परिणाम में आने वाले निश्चित दुख को नहीं देख पाते।

विवेक जीवन हित के लिये बहुत ऊँची सम्पदा है, विवेक सन्त
ंग से सुलभ होता है और सन्त संग भगवान् की कृपा से मिलता
है और कृपा उसी पर होती है जो भगवान् का हृदय से स्मरण
करता है। प्रत्येक मनुष्य उलझन में पड़ा है कोई कर्तव्य धर्म को
सुलझा रहा है कोई सामाजिक समस्याओं में उलझा हुआ है कोई
आर्थिक संकट से बोझिल होकर दब रहा है परन्तु विवेक न होने
से सभी अशान्त हैं और भूल पर भूल करते जा रहे हैं जिनका
दुष्परिणाम अभी भोगते हैं आगे भी भोगेंगे।

विवेक की कमी के कारण अशिक्षित ही नहीं शिक्षित भी भूलते
हैं, अपने को साधु, महात्मा, गुरु सन्यासी उपदेशक कहलाने वाले
भी भूलते हैं और अपने अनुयाइयों को भुलाते हैं।

ये उपदेशक, धर्माचार्य, शिक्षक यदि भूल न करते होते तो आज
तीरथों में, मन्दिरों में बड़े-बड़े धार्मिक मेलों में कुम्भ के पर्वों में
बड़ी-बड़ी हानियाँ क्यों उठानी पड़तीं।

हम गुरु जनों की, उपदेशकों की, धर्माचार्यों महन्तों की शरण
में जाते हैं शान्ति प्राप्त करने; हम तीर्थों में पर्वों में, कुरुक्षेत्र,
हरद्वार, नासिक, प्रयाग में जाते हैं पाप से मुक्त होने, ज्ञान प्राप्त करने,
परन्तु प्रायः वहाँ से थकावट लेकर, कभी-कभी रोग लेकर, अशान्ति
लेकर हानि उठा कर लौटते हैं और कभी-कभी तो कुछ धर्म प्रेमी
लौट भी नहीं पाते इसका ज्ञान प्रयाग के कुम्भ मेले से हम सबको
होना ही चाहिये जहाँ सैकड़ों-हजारों की संख्या में नर नारी कुचल

कर मर गए यह भूल का परिणाम नहीं तो क्या है? और इस प्रकार की भूल विवेक की कमी के कारण ही तो होती है?

जो साधु सन्यासी, विरागी, उपदेशक, धर्माचार्य विरक्त बनी हैं समाज को कर्तव्य धर्म का मुक्ति भक्ति का सदुपदेश देते हैं त्यागी विरागी होने की प्रेरणा करते हैं वही जब धन तथा मान के रागी पाये जाते हैं, उन्हीं को जब हाथी घोड़े तथा मोटर की चाह होती है तब इसे विवेक की कमी न कहें तो क्या कहें! जिन सन्त महात्माओं के दर्शन से पाप, ताप, दीनता दोष मिटने चाहिये उन्हीं के दर्शन करते हुए उनकी चरण रज उठाते हुए सैंकड़ों व्यक्ति कुचल कुचल कर मर जायें-यह अविवेक-जनित भूल का दुष्परिणाम नहीं तो क्या है? अब भले ही हमको समझाया जाय कि तीरथ में मरने से मुक्ति मिलती है, सद्गति होती है, अथवा अपने कर्म का भोग है, यह सब बातें मन को मनाने में सहायक अवश्य हैं पर इतना तो स्पष्ट दीखता है कि विवेक की कमी के कारण ये साधु सन्यासी, विरागी बड़े बड़े आडम्बर बनाते हैं अपने शरीर को विविध वेष से भूषित करते हैं अपने भिन्न-भिन्न संघ बनाते हैं, फिर एक दूसरे से सजावट बनावट में तुलना करते हैं और किसी से अपने को श्रेष्ट मानकर अभिमानी बनते हैं कहीं अपने को न्यून छोटा मानकर दीन बनते हैं। विवेक की कमी के कारण ही तो कुछ गुरू लोग उसी प्रकार अपना पण्डाल सजाते हैं, शिष्य समुदाय को एकत्रित करते हैं, अपनी सभा को आकर्षक बनाने के लिये नई-नई युक्ति सोचते हैं और प्रयोग करते हैं जिस प्रकार एक दूकानदार अपनी दूकान को सजाता है और ग्राहकों की ओर सतृष्ण दृष्टि से ताकता रहता है साथ ही आया हुआ ग्राहक हाथ से निकल न जाय इसके लिये बड़ी कुशलता-पूर्वक युक्तियों से काम लेता है, उसी प्रकार कुछ साधु महात्मा गुरू लोग धनी-मानी पुरुषों की ओर घात लगाये प्रतीक्षा करते रहते हैं।

जिस प्रकार उपदेशक धर्माचार्य गुरू लोग साधु सन्यासी विवेक की कमी में इतनी दीनता दरिद्रता का परिचय अपनी मनः-स्थिति द्वारा देते हैं; मान माया की तृष्णावश संसार की दासता से नहीं निकल पाते उसी प्रकार श्रद्धालु विश्वासी धर्म भीरु मानव समाज भी विवेक की कमी के कारण महात्माओं गुरुजनों की सेवा में श्रम करते हुए वास्तविक लाभ न उठाकर ज्यों के त्यों लोभी, मोही, अभिमानी बने रहते हैं सन्त महापुरुषों से जो महान लाभ उठाना चाहिये वह नहीं ले पाते बल्कि उलटा बड़ी बड़ी हानि का दुख भोगते हैं, ठगे जाते हैं। लेकिन जो सच्चे आत्मकल्याणार्थी हैं, जो सन्त महात्माओं से केवल विवेक ज्ञान तथा साधन समझकर दोष मुक्त होना चाहते हैं वही धोखा नहीं खाते।

विवेकी बुद्धि परिणामदर्शी होती है इसीलिये विवेकी पुरुष संयोग में ही वियोग को देखते हैं सुखी दशा में ही उसका अन्त दुःख में देखते हैं, जीवन में ही उसका अन्त मृत्यु में देखते हैं और अन्त आने के प्रथम ही वे संयोग से तथा सुख से एवं मिले हुये जीवन से विरागी होकर सबका सदुपयोग करते हैं; उन्हीं से भूल नहीं होती तभी ऐसे महापुरुष जीवन मुक्त कहलाते हैं।

विवेक की कमी में ही मानव मिले हुए को अपना मान कर संयोग का मोही, धन का लोभी, अधिकार का अभिमानी और अप्राप्त का कामी बनता है इन दोषों के कारण भूल पर भूल करता चला जाता है; कालान्तर में पूर्ण दुखी होकर विचार करता है और विवेकी होकर भूल से मुक्त होता है तभी परमशान्ति प्राप्त करता है।

विवेक की नाप शब्दों द्वारा नहीं होती वह तो दोषों के त्याग द्वारा, शुभ सुन्दर के दान द्वारा अपने आप आये हुए कष्टों के बीच में सहिष्णुता द्वारा प्रतिकूल परिस्थित के सदुपयोग द्वारा, निष्काम सेवा के द्वारा विपत्ति के अवसर पर गम्भीरता तथा धैर्य द्वारा

होती है। संसार में विवेक का बल सब बलों से श्रेष्ट है पि
उससे श्रेष्ट कृपा का ही बल सिद्ध होता है।

आज हम लोग पारस्परिक सम्बन्धियों में, समाज में, जाति
देश में, प्रचारकों, सुधारकों, संघों में उपदेशकों साधुओं सन्यासि
तक में भी जो कलह, द्वेष, ईर्ष्या देखते हैं वह सब विवेक की
कमी में हैं।

जितनी भी भूलें होतो हैं वह विवेक की कमी में या विवेक
आदर न करने से होती हैं फिर भी बहुत कम बुद्धिमान ऐसे मिल
हैं जो अपनी हानि का कारण भूल तथा भूल का कारण सत्य
विमुखता और विमुखता का कारण सद्विवेक की कमी या उसक
अनादर समझते हों।

सन्त सदगुरु के संग से यदि हमें विवेक न प्राप्त हो तो अन्य
कुछ भी प्राप्त होने से हम भूलों से, दोषों से नहीं बच सकते। सन्त
सद्गुरु के संग से भले ही हमें और कुछ भी नहीं मिले पर यदि
सद्विवेक प्राप्त हो जाय तो अपने जीवन का तथा प्रत्येक परिस्थिति
का सदुपयोग करते हुए हम निश्चिन्त अभय हो सकते हैं। इसी
लिये हमारी बुद्धि विवेकी होनी चाहिये कि हम अपने भाग्य को
न कोसते रह कर प्राप्त शक्ति के द्वारा जीवन को सुन्दर बना सकें।

जहाँ विवेक हीन प्राणी अपनी रुचि की पूर्ति में सुख मानता है,
अपूर्ति में दुःख मानता है संयोग तथा लाभ में हर्षित होता है, वियोग
एवं हानि से शोकित होता है, अनुकूल से राग करता है, प्रतिकूल
से द्वेष करता है वहीं पर विवेक युक्त मानव सम रहता है शान्त
रहता है, केवल अपने कर्तव्य पर दृष्टि रखता है, किसी दूसरे को
सुखदाता, दुखदाता न मान कर सब अपने ही कर्मों का फल भोग
जानता है, वह सुख को बाँट कर भोगता है, दुःख को अकेले चुप
रह कर सह लेता है। विवेक आलस्य, प्रमाद को स्थान नहीं देता,
अभिमान से सावधान रहता है, कहीं भी समय व्यर्थ नहीं खोता

।था शक्ति का कहीं भी दुरुपयोग नहीं करता, अपने सुख के लोभ-
।श किसी को दुख नहीं देता।

करोड़ों की सम्पत्ति हो, सैकड़ों दास-दासियाँ हों, अंगरक्षक
।हस्रों सैनिक हों, शरीर में हाथियों का सा बल हो, समाज में ऊँची
।पाधियाँ मिली हों पर मिले हुए के तथा जीवन के सदुपयोग का
वेवेक न हो तो सारी प्राप्त शक्ति उपभोग में ही नष्ट हो जायगी
केन्तु भय चिन्ता दुःख से मुक्ति तथा स्वाधीन शान्ति न प्राप्त होगी।

विवेकहीन होने के कारण ही प्रिय संयोग पाकर हम लोग मोही
ो जाते हैं। सम्पत्ति पाकर उदार न होकर उसके द्वारा दान न करते
ुए हम लोभी हो जाते हैं। अधिकार पाकर उसके द्वारा दीनों दुखियों
की सहायता रक्षा न करके हम अभिमानी भोगी बन जाते हैं। विवेक-
हीन होने के कारण ही हम वियोग में लाभ की हानि होने, अधिकार
छिन जाने या अनादर होने पर अत्यधिक दुखी होते हैं और अपने
दोषों भूलों को न देखकर दूसरों को दुख का कारण ठहराते हैं।

सद्विवेक होने पर हम सब कुछ शुभ, सुन्दर परमेश्वर से मिला
हुआ जानते हैं उसके द्वारा हम सेवा करते हैं उदार, दानी, निरभि-
मानी होकर सर्वजन-प्रिय होते हैं।

हम जितनी भी हानियों का दुःख सहते हैं वह सब सर्वाधार
सत्य से विमुख होने के कारण, अपने सत्स्वरूप की महत्ता को न
जानने के कारण तथा अपने स्वधर्म कर्तव्य-कर्म में आलस्य प्रमाद,
करने के कारण एवं जो कुछ स्मरण रखना चाहिये उसे भूल जाने के
कारण और जो कुछ भूल जाना चाहिये उसे स्मरण रखने के कारण
हते हैं।

हमें मन की शान्ति के लिये उन बातों को भूल जाना चाहिये जो
अशान्त बनाती हैं। हमें छोटी-मोटी चिन्ताओं को भूल जाना
चाहिये। किसी ने अपमान किया है, दुःख दिया है तो उसे भूल
जाना चाहिये। अपने को स्वस्थ रखने के लिये अस्वस्थता की बातें

भूल जाना चाहिये, दूसरों के प्रति घृणा, ईर्ष्या, द्वेष दुर्भाव है
अनेकों रोग बढ़ते हैं उन्हें भूल जाने में ही हित है। प्रिय स्व
वियोग को भूल जाना चाहिये, जो हानि हो चुकी है, जो बु
चुका है उसे भूल जाना चाहिये; उसे स्मरण करके ला
क्या होगा!

जो दुख सुख मिल चुके हैं उसकी चर्चा करते रहते भी
लाभ होगा? उसे भूल ही जाना चाहिये; इस समय हम जं
शुभ कर सकते हैं अथवा जो कार्य सामने है उसे पूरा मन ल
करना चाहिये।

अशुभ, असुन्दर, अनावश्यक का कथन तथा मनन भूल
चाहिये, शुभ सुन्दर आवश्यक को तथा अपने कर्तव्य को र
रखना चाहिये। हममें जो सामर्थ्य आयेगा वह बुद्धि से नहीं श्र
बल्कि अभ्यास से आयेगा अतः शुभ, सुन्दर करने का अभ्यास
हि ; अशुभ असुन्दर अभ्यास का त्याग करना चाहिये
सब कुछ की पूर्ति के लिये ही बुद्धि का विवेकी होना परमावश्यक

जहाँ से हमारी बुद्धि विवेकी हो जाती है वहीं से हमें सत्य
असत्य का, जगत का एवं जगदाधार का, कर्तव्य अकर्तव्य
सार्थक का, निरर्थक का भान होता रहता है तभी हमारे हृदय में
के प्रति जगदाधार परमात्मा के प्रति अनुराग प्रबल होता है इसी
सन्त हमारे हृदय को अनुरागी होने की प्रेरणा देते हैं।

अनुरागी हृदय को परमात्मा के चिन्तन ध्यान का प्रयत्न
करना पड़ता वह तो स्वतः ही होता रहता है जो भूलाये
भूलता। अनुराग के बिना परमात्मा का योगानुभव नहीं हो
अनुरागी हृदय वही है जिसकी प्रीति सब ओर से सिमिट
एक परमानन्द परमात्मा में ही लग जाती है ऐसा हृदय सांसारिक
द्वेषादि विकारों से मुक्त शुद्ध हो जाता है।

विकार रहित जीवन में अन्तिम अविद्या की गांठ

अभिमान है--वह भी खुल जाती है अर्थात् अहं अभिमान शून्य हो जाता है यहीं पर मानव भूल की सीमा को पार कर जाता है उसके दुखों तथा हानियों का अन्त हो जाता है, हानि होने के लिये कुछ रह ही नहीं जाता --यही सन्त के शब्दों में सुन्दर पवित्र निर्विकार जीवन है।

जब तक संसार में कोई बड़ा छोटा दिखाई देता है तब तक अभिमान और दीनता से हृदय जलता सा रहता है। जो अभिमान के अन्धे व्यक्ति हैं उनके ही अहंकार का नाश होता है, सर्वनाश नहीं होता।

हम संसार में मिली हुई वस्तुओं को अपना मान कर जिनके पास उन वस्तुओं की कमी है उनके सामने अभिमानी बनते हैं; गुरू जन हमें यही समझाते हैं कि जब मिली हुई कोई भी वस्तु सदा अपने साथ नहीं रहती तब उसकी प्राप्ति का अभिमान हमें नहीं करना चाहिये बल्कि परमेश्वर की आज्ञानुसार उसका सदुपयोग करना चाहिये। हम देहाभिमानी हैं तभी तो गुरूजनों को भी देह मान कर ही पूजते रहते हैं और जब हम गुरू बनते हैं तो अपनी देह की भी पूजा कराते हुए सन्तुष्ट होते हैं। वास्तव में न हमें किसी व्यक्ति की दासता में बँधना चाहिये न अपने व्यक्तित्व में किसी को बाँधना चाहिये, स्वयं सत्य की उपासना करना चाहिये दूसरों को भी यही बताना चाहिये। इस प्रकार के गुरू सन्देश को, गुरू आज्ञा को जो अभिमानी नहीं मानते, अपने मन की ही करते रहते हैं वही लोभी मोही, रागी, द्वेषी बने रह कर अन्त में विविध दुःख कष्ट भोगते हैं।

अभिमान मिटाने में सत्य असत्य का विवेक ही समर्थ है और वह विवेक गुरू जनों के द्वारा प्रभु की कृपा से सुलभ होता है।

अहंस्फुरण ही जीव का स्वरूप है, उस अहं को जो अभिमान होता है कहीं पर देह का, कहीं रूप का, धन का, बल का विद्या का,

कुल का तप का और त्याग का हुआ करता है; अभिमानी व्यक्ति संसार का दास रहता है।

अभिमान की प्रबलता में बड़े-बड़े त्यागी, तपस्वी, दानी तथा शुभकर्मी जनों का पतन हो जाता है और अभिमान शून्य होने पर पश्चाताप करने वाले पापी का उत्थान होता दीखता है।

जब हम किसी भी गुण को समर्थ भगवान के गुण न जान कर अपने या दूसरे व्यक्तियों के गुण समझने लगते हैं तभी किसी के आगे दीन बनते हैं और किसी को देख कर अभिमानी होते हैं।

जब हम अपने में या दूसरों में जो कुछ भी विशेष गुण देखते हैं उसे भगवान का ही समझते हैं तभी हम अभिमान की सीमा को पार कर जाते हैं।

जब परमेश्वर दयासागर कृपासिन्धु परम उदार पूर्णकाम [illegible], परम सुहृद करुणानिधि हैं तब किसी व्यक्ति [illegible] जो हमें दया, कृपा उदारता तथा शक्तिशालिता सुहृदता आदि गुण विशालता दीखती है वह उस सर्वगुणों के सागर परमाधार [प]रमेश्वर की है।

विवेकी बुद्धि द्वारा हमें अपने पास अपना कुछ भी नहीं दीखता [त]भी अभिमान का अन्त होता है।

भगवान के नित्य सम्बन्ध को न जानने से और संसार के [अ]नित्य सम्बन्ध को अपना मानने से अभिमान प्रबल होता है। [अ]भिमान का त्याग करना मुनियों के लिये साधु सन्यासियों उपदेशकों [के] लिये भी कठिन है, अपने-अपने ज्ञान के सेवकाई के गुरुआई के [अ]भिमान के कारण प्रायः दो गुरुओं में उपदेशकों में पंडितों विद्वानों में [भ]ीतर से एकता मित्रता नहीं दिखाई देती। जहाँ कहीं मान-हानि [होती] [है] वहीं पर दो शिष्यों में मत-भेद हो जाता है विद्वानों में द्वेष चलने [ल]गता है।

यह सन्तों के शब्द हैं:—

'विरले ही जन सुनत हैं जो कुछ कहत सुजान।
तरने को आधीनता बूड़न को अभिमान॥'
'कबिरा नवै सो आपको, पर को नवै न कोइ।
घालि तराजू तोलिये, नवै सो भारी होय॥'

सन्त वचन—विवेक के द्वारा गुण का अभिमान न रहे, दोषों की उत्पत्ति न हो यही साधन की सिद्धि है; इसी से अभिमान का नाश, वासना का क्षय फिर सत्य-तत्व का ज्ञान और फिर मुक्ति तत्पश्चात् भक्ति सुलभ होती है।

वे विशाल हृदय के पुरुष हैं जो सन्मान से विचलित नहीं होते उन्हें ही अपमान का दुःख नहीं होता। अभिमानी को मान के शब्द सुना के चाहे कुछ करा लिया जाता है। जो मान की रपटन से सम्हलते रहते हैं वे सावधान महापुरुष हैं।

हमारी कितनी बड़ी भूल है; हम यह भी नहीं समझ पाते कि जिन बातों से हमें मान मिलता है वे सब परमेश्वर की ही शक्ति से पूर्ण दीखने वाली बातें हैं या जितने भी ऐसे गुण हैं वे सब ईश्वरीय गुण हैं हम व्यर्थ ही अपनी श्रेष्ठता का अभिमान करते हैं।

जो पूर्ण परमेश्वर का योगी है वह कुछ नहीं चाहता। जो अपूर्ण का संयोगी है वही चाहता है पर कहीं भी तृप्त नहीं होता। नकली साधु महात्मा मान-प्रतिष्ठा के पीछे कितनी हाय-हाय करते हैं लेकिन असली साधु महापुरुष गम्भीरता पूर्वक कृतज्ञता की नम्रता की वाणी बोलते हैं।

सम्मान भोग से तप का क्षय होता है। अपमान को प्रसन्नता-पूर्वक सह लेने से तप की वृद्धि होती है।

हृदय से गरीब होकर सरल विनम्र रहकर परमेश्वर की सत्ता, महत्ता को जगत के नामों रूपों में व्याप्त अनुभव करना, किसी का

अनादर अपमान न करना, किसी से घृणा, द्वेष न करना, स... कर्मों से श्रेष्ट है; इससे अभिमान पर विजय मिलती है।

शरीर से आलसी होना पहली भूल है, इन्द्रियों तथा मन... विषयासक्त होना दूसरी भूल है, चित्त से अशुभ, असुन्दर तथ... असत्य का चिन्तन करना और रागी द्वेषी होना तीसरी भूल है बुद्धि से असत् को सत्य मान बैठना सत्य की खोज न करना चौथी भूल है, अहं से शरीर सम्पति परिवार को अपना मानकर मोही लोभी, अभिमानी होना यह पाँचवीं भूल है; इन्हीं भूलों के कारण पुन... सैकड़ों भूलें होती रहती हैं, जिनका परिणाम अगणित हानियों, कष्टों, दुःखों अन्त में मृत्यु के रूप में भोगना पड़ता है।

सभी प्रकार की भूलों का आरम्भ होता है सत्य परमात्मा को ... जगत दृश्य में मोहित होने से। परमेश्वर से विमुख होते ही ... संग होने लगता है यही अहं का अभिमानी होना है। इन्द्रियों की दृष्टि से प्रतीत होने वाले विषय सुखों के प्रति आसक्ति बढ़ती है, मन अनुकूल का रागी प्रतिकूल का द्वेषी होकर जैसा यह जीव सुनता है वैसा मानता जाता है और उसी का मनन करता है, चित्त से उसी का चिन्तन करता है, बुद्धि से उसी को स्वीकार करके अहं द्वारा संग का अभिमानी बन जाता है यह सब भूल का ही परिणाम है।

परमात्मा के सम्मुख होना सब कुछ परमात्मा का ही समझना अपना कुछ न मानना यह भूल मिटाने का मार्ग है।

हम सत्य को भूलकर झूठे सुखों के लिये झूठे संसार के साथ समझौता करके जीवन में बड़ी-बड़ी हानि का दुःख भोग रहे हैं। हानि ही हमारे लिये भूल का दण्ड है—वह इसीलिये है कि हम फिर भूल न करें।

संसार में जन्म लेकर जो संसार के क्षण-क्षण बदलते रहने वाले देहादिक वस्तुओं के स्वरूप को नहीं पहचानते वे मनुष्य भूलें

हुए हैं। वे नहीं जानते कि जो कुछ दीखता है वह सब मिट रहा है। जो माता, पिता, पति, पत्नी आदि मिले हुए सम्बन्धियों शरीरों को अपना मानकर मोह करते हैं वे भूले हुए हैं, वे नहीं जानते कि संसार में जो कुछ मिला है वह अपनी वासना कामना पूर्ति के लिये मिला है, वह हमारे लिये तो है परन्तु हमारा नहीं है। उसे हम सदा अपने साथ नहीं रख सकते।

जो दुखी होकर दुःख का कारण दूसरे को ठहराते हैं वे भी भूले हुए हैं, वे नहीं जानते कि संसार में समस्त दुःख अपने ही दोषों के कारण, भूलों के कारण, अज्ञान के कारण होते हैं।

जो संसार में मिले धन को अपना मानकर लोभ बढ़ा रहे हैं तथा मिले हुए अधिकार के अभिमानी बन रहे हैं वे भी भूले हुए हैं; वे नहीं जानते कि यह हमारे किसी पुण्य-कर्म के फल स्वरूप मिला है, सदा न रहेगा। अतः धन के द्वारा दान करना चाहिये अधिकार बल से दूसरों की रक्षा तथा सेवा एवं कर्तव्य पालन करना चाहिये—जो ऐसा नहीं करते वही दुख भोगते हैं।

जो शरीर में रहकर शरीर के मालिक को और संसार में रहकर संसार के मालिक को नहीं जानते वे भी भूले हुए हैं; वे नहीं जानते कि शरीर के स्वामी को पहिचाने बिना शरीर को अपना मानकर काम में लाने से और संसार के स्वामी को जाने बिना संसार की वस्तुओं का उपभोग करने से चोरी का दण्ड मिलेगा। जिस प्रकार चोर के हाथों-पैरों में हथकड़ी बेड़ी डाली जाती हैं उसी प्रकार शरीर तथा संसार के स्वामी को न जानने वाले, उसके विधान को न मानकर चलनेवाले जीव के भी, प्रकृति विधान के अनुसार, हथकड़ी बेड़ी पड़ जाती हैं, यह मोह लोभ अभिमान ही वे बेड़ी हथकड़ी हैं जिनसे जीव तब तक मुक्त नहीं हो सकता जब तक सच्चे स्वामी की शरण नहीं लेगा।

जो क्षणिक सुख के लोभ-वश दूसरे को दुःख देते हैं वे भी भूले

हमारी उन्नति कैसे हो

'नारायण सत्संग कर सीख भजन की रीति।
काम क्रोध मद लोभ में गई आयु सब बीत॥
आप मेटै हरि भजै तन मन तजै विकार।
निरबैरी सब जीव सों दादू यह मत सार॥'

हम अपनी उन्नति के लिये अनेकों प्रकार की बातें सुनते भिन्न-भिन्न साधनों की महिमा पढ़ते हैं, अधिक सुनने पढ़ने पश्चात् फिर भी यही प्रश्न उत्पन्न होता है कि हम श्री ग कहाँ से करें आरम्भ कैसे करें; हमें गुरु ज्ञान प्रकाश में यह ज्ञात हो सका कि जिन बन्धनों से छूटने का हम उठाते हैं उन्हीं से हम मोह करते हैं। हम यह तो चाहते कि दुःख न हो परन्तु जिस सुख के पथ में अगणित दुःख उधर ही बढ़ते जाते हैं और जिधर अखण्ड आनन्द है उ त्याग तथा तप से डरकर वैराग्य के द्वार से लौट आते हैं।

प्रकाश में जीवन की गति का निरीक्षण करने से पता चला हमारी उन्नति का शुभ मुहूर्त है विवेकी त्यागी महापुरुष का सुसं सुसंग से अपने दोषों का ज्ञान होता है, दोषों का अथवा अप कमी का ज्ञान होने पर दुःख होता है और दोष निवृत्ति प्रयत्न चलता है।

दोषों का त्याग ही जीवन की उन्नति है। दोषों की अधि के माने हैं गुणों की कमी। गुण के अभिमान से अनेकों वनते रहते हैं, दूसरों के दोष दीखते रहते हैं। अज्ञान अन्धकार में ही सारे दोषों की उत्पत्ति होती है; गुणासक्ति दोषों की भूमि है। एक सन्त के कथनानुसार गुणों के उपभोग

सकती है, अपना विकास नहीं हो पाता। शुद्ध संकल्प के विकास का साधन है। दूसरों से कुछ लेने वाला उन्नति : पाता।

कुछ हमारे पास है उससे कहीं चैन आये ही नहीं तभी हो सकती है।

सारिक उन्नति के लिये संयम, सदाचार, सेवा, श्रम को बनाकर विचारपूर्वक लोभ, मोहादि दोषों का त्याग करना।

स्तिकता की उन्नति के लिये विश्वास, दृढ़ता भगवद् शरणागति क है।

ध्यात्मिक सामर्थ्य की उन्नति के लिये विचार, अन्तर्मुखी विषयों से विरक्ति और ज्ञान स्वरूप की मन बुद्धि से । अर्थात् मन बुद्धि को देह से हटाकर ज्ञान स्वरूप आत्मा ट रखना आवश्यक है।

ारे हृदय में उन्नति का प्रश्न तभी उठता है जब हम अपने से किसी उच्च शिखर को देखते हैं और वहां की महिमा ते हैं, दूसरे शब्दों में जब-हम अपनी पतितावस्था को जानते अपने सर्वोच्च लक्ष्य को देखते हैं तभी लक्ष्य तक पहुँचने हम व्याकुल हो उठते हैं।

व्यक्ति अपनी भोगमय परिस्थिति में ही सन्तुष्ट है जिसे ोग सुखों का अन्त दुख में संयोग का अन्त वियोग में जीवन मृत्यु में नहीं दीख रहा वह अपने को आगे बढ़ने तथा ऊँचे ा प्रश्न तब तक नहीं उठाता जब तक उसके भोगस्थल में ाव नहीं होता और दुख के साथ विचार जाग्रत नहीं होता। ोपभोग की भूमि से उठा नहीं, आगे बढ़ा नहीं, उसे गिरने भय कैसा? गिरने का भय उसी को होता है जो ऊँचे चढ़ता है सी को गिरते देखकर इतना डर जाते हैं कि आगे बढ़ने का

ऊँचे चढ़ने से ही घबराते हैं, हम विश्वामित्र आदि मुनियों महा
का प्रमाण देते हुए अपने को महाँ अयोग्य शक्तिहीन पामर मान
उन्नति से निराश हो जाते हैं परन्तु प्रकाश में निरीक्षण से पता
कि चढ़ने वाले को गिरना, चलने वाले को भूलना उसकी असावधा
तथा दुर्बलता दूर कराने में सहायक है। साधक गिर गिर कर च
की योग्यता प्राप्त करता है भूल भूल कर मार्ग को तथा अपने स
लक्ष्य को जानता है और सावधान होकर यात्रा सफल बनाता है।

पूर्व कर्मों के अनुसार हमें जो कुछ भी मिला है, हमारी जै
भी अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति है उसका सदुपयोग करना ही उन्न
करते जाना है।

सत्संग सन्त कृपा होने पर भी जो विवेक पूर्वक व्यवहार न
करता जो मिथ्या ग्रही होता है तथा विषयासक्ति को जो नहीं छो
पाता, जिसकी अनियमित निद्रा है, जो अधिक भोजन करता है,
धन वैभव का अभिमानी होता है, जो धन मान का भूखा है, जिस
अमर्यादित भोग-विलासिता है, जो दूसरों का अनिष्ट चाहता है, ज
लोभवश संचय करता है, जो अपनी बड़ाई के लिये अनेकों से म
बढ़ाता रहता है, जो नित्य नियम पालन में दृढ़ नहीं है जिसका चि
चंचल रहता है, जो कामी है क्रोधी है, पर-दोष दर्शक है, वह त
तक अपनी उन्नति नहीं कर सकता जब तक इन सब दोषों का त्या
नहीं करता।

वही उन्नति कर सकता है जो पुरुषार्थी है, प्रमादी नहीं है
जिसका शरीर स्वस्थ है, श्रद्धालु है, जो धीरजवान् है, जिसमें संशय
नहीं है, जो संयमी है, कष्टसहिष्णु है, जिसमें पवित्रता है पुजवाने
की चाह नहीं है, जो दयालु है जिसमें आतुरता नहीं है, जो पर
से व्यर्थ चिन्तन में समय नष्ट नहीं करता।

वही उन्नति कर सकता है जो बाह्य वेष-भूषा की आसक्ति से
रहित है, जो विवाद नहीं पसन्द करता, जो स्वावलम्बी है जिसमें

लोक रञ्जन की रुचि नहीं है, जो माता-पिता गुरुजनों का सदा आदर करता है, शास्त्र पर विश्वास करता है, जो साधन नियम में दृढ़ है, जो अनेकों धन्धों में व्यस्त नहीं है, जिसमें अपनी सफलता तथा प्र...ति का अभिमान नहीं है, जो वीर्यवान्, शीलवान् है, जो विपत्ति में घबराता नहीं है, जो सम्पत्ति पाकर हर्षोन्मत्त नहीं होता, जो आश्रम आदि की स्थापना नहीं करता, जो सदा लक्ष्य पर दृष्टि रखता है जो देहाभिमान का त्याग करता है।

वही उन्नति कर सकता है जो सदा शास्त्र एवं गुरु वाक्यों द्वारा कुतर्क को दूर कर लेता है, जो सदा सत्संग विवेक का आश्रय लेकर सब कर्म करता है, जो बार बार देह की नश्वरता को देखता रहता है, जो गुरु-सेवा में सदा तत्पर रहता है, जो दुखियों की सहायता करता है, जो दूसरों के हित के लिये कष्ट सह लेता है, जो अपने ...र्य-पालन से सबको सन्तुष्ट प्रसन्न रखता है, जो अपनी हानि को अपमान को या अन्य दुःखद परिस्थिति को अपने ही पूर्वकर्मों का फल समझकर तप के भाव से भोग लेता है और जो इच्छाओं का त्याग करता जाता है।

ऊँचे चढ़ा हुआ उन्नत जीवन वही है जिसे भोग भूमि में रहने वाले सुख, दुख, संयोग, वियोग, लाभ, हानि, मानापमान, जो कभी बहुत बड़े अपने जीवन को दबा देने वाले प्रतीत होते थे वही बहुत छोटे दिखने लगते हैं उसी प्रकार छोटे प्रतीत होते हैं जिस प्रकार गिरिशिखर पर चढ़कर देखने से नगर के बड़े-बड़े ऊँचे भवन बहुत ही छोटे प्रतीत होते हैं।

उन्नत जीवन वही है जिसकी छाया बहुत बड़ी होती है जो छोटे ... को आश्रय देता है आश्रितों को शीतलता प्रदान करता है।

हम अपनी उन्नति के लिये सर्वोच्च पद प्राप्त करने के लिए देह से आत्मा की ओर, जड़ से चेतन की ओर पराधीनता से स्वाधीनता की ओर सीमिति से असीम की ओर विनाशी से अविनाशी की ओर

सुख दुःख के बन्धन से परम शान्ति की ओर मृत्यु से मुक्ति
ओर देखना और उधर ही चलना होगा।

अहंता और ममता का त्याग, सत्य से प्रेम, शुभ सुन्दर का
स्वकर्तव्य पालन रूप तप ही सर्वोच्च उन्नति का साधन है।

सब प्रकार के भय से, चिन्ताओं से रागद्वेष की पहुँच से परे
जाना है सर्वोच्च पद प्राप्त कर लेना। शान्ति और सन्तोष
प्रेम की पूर्णता ही उन्नति है।

हमें अपनी उन्नति के लिये सर्व प्रथम विरक्त विवेकी महापु
के संग से योग्यता प्राप्त करनी चाहिये पुनः उसी योग्यता का स
पयोग सद्व्यवहार में करना चाहिये—ऐसा करने से दोषों का न
होगा, दैवी गुणों का विकास होगा—यही मानव जीवन
उन्नति है।

हम अपने को तभी सुयोग्य कह सकते हैं जब परस्पर के व्यवह
में अपने को सदा शान्त, विनम्र, सहिष्णु, उदार बनाये रख सकें
दूसरों के कर्तव्य पालक होने की राह न देखें वरन् स्वयं कर्तव्य पाल
होकर जीवन को सार्थक बनायें।

हम अपनी उन्नति के लिये या शान्ति प्राप्त करने के लिये प्राय
सरल साधन की खोज करते रहते हैं। सरल साधन की खोज हम
तभी करते हैं जब हमारे लिये सुखासक्ति का, लोभ, मोह, कामादि
दोषों का त्याग करना कठिन प्रतीत होता है, कर्तव्य पालन में तथा
सेवा करने में अथवा संयम रूप तप में आलस्य प्रमाद रहता है; तभी
हम कुछ जप या कीर्तन, पाठ, पूजा आदि शुभ कर्मों को ही उन्नति
का, परमशान्ति या आत्मकल्याण का साधन मान लेते हैं। जब कुछ
काल यह सब करते हुए व्यतीत होता है परन्तु मन निर्मल नहीं होता
है, शान्ति नहीं मिलती है तब फिर वही प्रश्न उठाते हैं जो कि पहले
पहले उठाये थे। अब हमारी समझ में सदा के लिये आ जाना चाहिये
कि हमारी शारीरिक उन्नति, विधिवत श्रम तथा सदाचार से होगी,

नसिक उन्नति अपना कर्तव्य समझकर दूसरों की सेवा तथा छोटे प्रति प्यार और बड़ों को सदा आदर मान देते रहने से होगी, क्रम से आत्मिक उन्नति राग द्वेष मोह लोभ तथा कामना त्याग से होगी।

श्रम तथा सदाचार की पूर्णता से संयमित शक्ति की प्राप्ति होती सेवा तथा सन्मान के द्वारा स्वेच्छित सुख सुलभ होता है, इसी कार दोषों, दुर्विकारों के त्याग से जीवन में परम शान्ति उपलब्ध ोती है।

उन्नत जीवन वही है जिसे संसार में प्रत्येक वस्तु या परिस्थिति अपने-अपने स्थान में नियम बद्ध दिखाई देती है जो किसी से घृणा द्वेष नहीं करता ऊँच नीच की भेद दृष्टि जिसकी रह ही नहीं जाती; जिस तक संसार का कोलाहल प्रपञ्च पहुँच ही नहीं पाता, दोषों, दुर्विकारों की दुर्गन्ध जिसके स्थान तक को स्पर्श नहीं कर पाती; जो सर्वदर्शी दूरदर्शी सत्यदर्शी होता है।

बुद्धि में दूर तक देखने की विचार दृष्टि न होने के कारण ही हम लोग मोही, लोभी, अभिमानी क्रोधी ईर्ष्यालु द्वेषी सुखासक्त पाये जाते हैं।

हमें जब कभी कुछ धन मिलता है तो हर्षित होते हैं परन्तु दूर-दर्शिता न होने के कारण उस लोभ की वृद्धि को नहीं देख पाते जो धन प्राप्ति के साथ ही होती रहती है। बाहर रहने वाला धन यहाँ का यहीं रहता है पर लोभ तो हमारे साथ ही जाता है। किसी निर्धन में ही नहीं बल्कि बड़े-बड़े धनिकों को हम देखते हैं तो धन बढ़ने के साथ लोभ घटा हो—ऐसा नहीं दिखाई देता, धन वृद्धि के साथ लोभ की वृद्धि प्रायः दिखाई देती है।

हमें जितने ही प्रिय सम्बन्धी मिलते जाते हैं उनके मिलने से मोह घटता हो सो बात नहीं दीखती बल्कि सम्बन्धियों की वृद्धि से मोह बढ़ता ही जाता है, पहले माता-पिता से मोह बढ़ा फिर भाई बहिन

मित्र से मोह बढ़ता गया आगे चलकर पति पत्नी सम्बन्ध से मो
बढ़ा फिर जितनी सन्तान होती गई उतना ही मोह आगे-आ
बढ़ता ही गया यदि किसी में मोह घटा तो दूरदर्शी विवे
में ही घटा। इसी प्रकार हमें जितनी उपाधियाँ मिलती गईं, जित
अधिकार मिलते गए उतना ही अभिमान बढ़ता गया। जित
इच्छाओं की पूर्ति होती गई उतनी ही कामनायें बढ़ती गईं।

दूरदर्शी दृष्टि न होने के कारण हम जिस संयोग से, जि
लाभ से, जिस अधिकार या जिस रुचिपूर्ति से हर्षित होते हैं, उस
से हम लोभी, मोही, अभिमानी, कामी होते जाते हैं। यह दोष ह
हमारे अनेकों दुखों का, बन्धनों का कारण है पर उन्हें हम देख नह
पाते, या देख कर भी ध्यान नहीं देते।

जब हम दूर तक देखने लग जाते हैं तब हमें लाभ का अन
हानि में, संयोग का अन्त वियोग में, सुख का अन्त दुःख में जीव
का अन्त मृत्यु में दिखाई देने लगता है। अन्त को देखकर ही ह
अनन्त की ओर, सीमित को देखकर ही असीम की ओर, विनाश
को देखकर ही अविनाशी की ओर देखने; उधर ही चलने तथ
उसका योग प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करते हैं और विधि विधा
का आश्रय लेकर हम उस सत्य के, अनन्त के योगी हो सकते हैं
संयोग-वियोग, जन्म-मृत्यु सुख-दुख की सीमा को पार कर अनन्त
का योगानुभव करना ही हमारी सर्वोच्च उन्नति है।

नीच नीच सब तरि गए, सन्त चरन लवलीन।
जातिहि के अभिमान ते डूबे बहुत कुलीन॥
धन विद्या गुन आयु बल, यह न बड़प्पन देत।
नारायण सोई बड़ा जाका हरि सों हेत॥

भयो बड़प्पन के बिना को उच्चासन योग बैठो काग मुड़ेर पर हंस न माने सो
बड़े रामरत जगतमें कैपरहित चित जाहि। प्रेम पंज निवहीं जिन्हें बड़ोसोरसहीपाहि

प्रेरणा

प्रेमियो अब कदम बढ़ाओ तो।
इधर भी करके कुछ दिखाओ तो॥
बहुत दिन भोग का सुख देख चुके।
इधर से दृष्टि अब घुमाओ तो॥
देख लो, कितने शक्ति हीन हुए।
अभी समय है, चेत जाओ तो॥
सुखों के अन्त में दुख ही मिलता।
तुम भी समझोगे, इधर आओ तो॥
इतना जीवन बिता चुके जग में।
अभी तक क्या मिला, बताओ तो॥
सबकी सुनते हो, हमारी भी सुनो।
पर्दा अभिमान का हटाओ तो॥
हम अभी शान्ति दिखा देंगे तुम्हें।
राग के त्याग को अपनाओ तो॥
शक्ति है साथ तुम्हारे लेकिन।
अपना मन अपने पास लाओ तो॥
कृपा प्रभु की न तुम्हें छोड़ेगी।
पथिक संकल्प दृढ़ बनाओ तो॥

कृपा

सुखद दुखद कारज कठिन जानत को तेहि नाहि।
जानहि पर गुरु कृपा विनु करतव बनत न काहि॥
विनु विश्वास भगति नहि तिहि विनु द्रवहि न राम।
राम कृपा विनु सपनेंहु जीव न लह विश्राम॥

जहाँ पर विधि पूर्वक प्रयत्न पूर्ण होता है वहीं से कृपा का
अनुभव होता है।

हम जो कुछ प्राप्त वल द्वारा कर सकते हैं उसे करलेने पर
के अधिकारी हो सकते हैं। वल को वचाकर अथवा वल का दुरुप
करते हुये जव हम कृपा के लिये प्रार्थना करते हैं तव हमारी प्रा
नहीं सुनी जाती। अपने कर्तव्य को पूर्ण कर लेने पर कृपा के
प्रार्थना नहीं करनी पड़ती।

कृपा करना परम प्रभु का नित्य स्वभाव है। हम लोग भले
न समझें पर वे हम सव पर कृपा करते ही रहते हैं। जव तक
कृपा के अधिकारी नहीं होते तव तक प्रभु कृपा के लिये अवसर
प्रतीक्षा करते हैं और जव तक हम कृपा के पात्र नहीं वन पाते
परम प्रभु दया करते हैं।

परमेश्वर की दया से हमें संसार का सव कुछ मिलता है, दय
हमारे मन की कामनायें पुरी होती हैं परन्तु कृपा से स्वयं परमान
रूप परमेश्वर ही मिलते हैं।

दया से स्वेच्छित सुख मिलते हैं कृपा से शान्ति मिलती
हमारे दुखी होने पर प्रभु दया करते हैं और सव प्रकार से निरा
होने पर दीन होने पर वे कृपा करते हैं। जिस महान लाभ के

ुसें कुछ नहीं करना पड़ता, जो स्वतः ही होता है वह कृपा है, जो कु
में श्रम के पश्चात् दुखी होने पर मिलता है वह दया है।

गंगा जी का जल नहर द्वारा कहीं लेजाना दया है और गंगाजी :
निरन्तर बिना किसी प्रार्थना के बहते रहना कृपा है! कूप खोद
जल निकालना, पंखे के द्वारा वायु प्राप्त करना, विद्युत शक्ति को कों
में प्रकाशित करना, प्रकाश को किसी वस्तु के योग से गृह में जला
दया है और स्वतः वर्षा द्वारा जल प्राप्त करना, स्वतः वायु चल
सूर्य चन्द्रादि से प्रकाश प्राप्त करना कृपा है।

एक सन्त के शब्दों में—कृपा का सहारा वही लेता है जो कृप
की महिमा को, उनके महान ऐश्वर्य माधुर्य को तथा प्रभाव को ज
लेता है।

भगवान जब हम पर कृपा करते हैं तब जिससे हमारा हित हो
है अथवा जिस की हमें आवश्यकता है वह बिना माँगे ही देते रहते
वही करते रहते हैं और जिससे हमारा अहित होता है वह माँगने
भी नहीं देते हैं।

परम भक्त नारद पर जब भगवान कृपा करते तब माँगने
भी मनोहर स्वरूप नहीं देते और बन्दर का रूप बिना माँगे ही दे
हैं क्योंकि इसी में श्री नारद जी का हित निहित है।

कृपा के लिये किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती केव
पूर्णरूपेण प्रभु में ही निर्भर होकर रहने की आवश्यकता होती है

सन्त का वचन है कि अभिमान युक्त व्यक्ति कृपा का आश्र
नहीं ले सकता। निरभिमानी पुरुष में कृपा ही सब कुछ करती है
जगत की वस्तुओं व्यक्तियों का आश्रय लेने वाले कृपा का अनु
नहीं कर पाते।

मुक्ति यदि त्याग से मिलती है तो भक्ति अहेतुकी कृपा
सुलभ होती है। दुःख तो अपने ही दोषों के कारण मिलते

किन्तु आनन्द का अनुभव कृपा से ही होता है। गुरुजनों की
का बल सब बलों से श्रेष्ट दीखता है।

जिस प्रकार संञ्चित पुण्य तथा विधिवत प्रयत्न से इच्छाओं
पूर्ति होती है, कामना के त्याग से अथवा सत्यतत्व में बुद्धि
समस्थित कर लेने से शान्ति मिलती है, भगवान को सर्वभ
अपना मानने से प्रीति बढ़ती है, सर्व संग से असंग हो जा
मुक्ति मिलती है उसी प्रकार भगवद् कृपा से भगवान तथा उ
भक्ति सुलभ होती है।

कभी-कभी हम ऐसा भी सोचने लगते हैं कि भगवान वि
साधन से नहीं मिलते वह अपनी अहेतुकी कृपा से मिलते हैं
किसी प्रकार के साधन नियम-संयम की आवश्यकता ही क्या
इस प्रकार के तर्क समाधान गुरु ज्ञान प्रकाश में यही हुआ है कि
प्रकार के साधन चित्त की शुद्धि के लिये अपने अन्तःकरण के
मिटाने के लिये परमावश्यक हैं। चित्त की अशुद्धि से ही सारे द
का सम्बन्ध है, चित्त की शुद्धि से ही सारे सद्गुणों का सम्बन्ध

यह सन्त के वचन हैं:—संसार से निराश होने पर सब
से चित्त हटा लेने पर चित्त शुद्ध होता है। अथवा विषयों से विर
होने पर चित्त शुद्ध होता है, आशाओं कामनाओं में फँसा हुआ चि
अशुद्ध रहता है; इसीलिये राग के कारण चित्त की अशुद्धि त्याग
दूर हो जाती है। चित्त के शुद्ध होने पर बुद्धि सम होती है त
यथार्थ विवेक प्रबल होता है।

जो कुछ अपने को प्राप्त है उसका विवेक पूर्वक सदुपयोग क
से और जो अप्राप्त है उसकी इच्छा का त्याग करने से चित्त शु
होता है। अपने को कुछ न मानने से, साथ ही अपना कुछ न मा
से या फिर केवल परमेश्वर को अपना मानने से और सब प
परमेश्वर का जानने से अन्तःकरण निर्मल हो जाता है—यह स
पुरुष का सन्देश है।

अब भी यदि हम सब कुछ भगवान से मिला हुआ समझने जाँय; अपना मानना छोड़ दें तो हमारे दोषों का अन्त सरलत हो सकता है। दोषों का अन्त होते ही दुःखों का अन्त ह अनिवार्य है। दोषों दुर्गुणों, दुर्विकारों का अन्त करने के लिये जी को साधन बनाना है। जो कुछ हम कर सकते हैं उसे करना चाहिये अपना कर्तव्य पूरा कर लेने पर भगवान की कृपा से कुछ होना है वह अपने आप ही होगा, हमें स्मरण कराने का प्र न करना पड़ेगा—ऐसा भगवान के परमप्रेमियों द्वारा ज्ञात हुआ है

प्रसन्नता

प्रसन्नता एक दैवी गुण है प्रसन्नता में मानो परमेश्वर निवा करते हैं. आनन्दस्वरूप तत्व प्रसन्नता के द्वारा मुस्कराता पाया जा है। अपने जीवन को दैवी गुणों के द्वारा समलंकृत करने अथ सुन्दर बनाने के लिये हम सदा स्वतंत्र हैं। हम दूसरों को देव नहीं बना सकते लेकिन स्वयं देवताओं के गुण अपने में धारण क सकते हैं। सब हम पर दया करें, हमारी भूलों को लोग क्षमा क दें, हम से हमारे सम्बन्धी सदा प्यार ही करें, हमारा तिरस्का कभी न करें—ऐसा भले ही सम्भव न हो; पर दूसरों पर दय करना, दूसरों की भूलों को क्षमा कर देना, सब को प्यार करना किसी का तिरस्कार न करना हमारे लिये सदा सम्भव है क्योंकि हम इसके लिये स्वतंत्र हैं।

सदा प्रसन्न रहने के लिये अभय रहना तथा निश्चिन्त रहना

रमावश्यक है विनाशी वस्तुओं में सुख मानने के कारण हम यातुर चिन्तित होते हैं। यदि हम ऐसी वस्तु में सुख निर्भर रें जिसका कभी नाश न हो तो हमें कहीं भी भयातुर, चिन्ताकुल होना पड़ेगा, इसीलिये आस्तिक के जीवन में भय और चिन्ता को कहीं स्थान नहीं मिलता।

जब हमें यह ज्ञान हो जाता है कि परमेश्वर के प्राकृतिक विधान में कहीं भूल हो ही नहीं सकती, जो न होना चाहिये वह हो ही नहीं सकता तब हम किसी भी प्रकार की प्रतिकूल परिस्थिति में भयभीत तथा चिन्तित नहीं होंगे बल्कि यह सोचकर प्रसन्न रहेंगे कि जो कुछ आया है वह हमारे हिस्से का भोग आया है और कुछ सिखाने आया है, प्राकृतिक अटल विधान का ज्ञान कराने आया है और दुःख की भूमि से परम शान्ति के सर्वोच्च शिखर की ओर प्रेरित करने आया है।

अखण्ड रूप से वही प्रसन्न रह सकता है जो अखंड सत्य को जानता है। सदा प्रसन्न रहने वाले की बुद्धि स्थिर होती है मन अचंचल रहता है प्रायः शरीर भी स्वस्थ रहता है किसी पूर्वकाल के असंयम-जनित परिणाम से यदि शरीर अस्वस्थ भी हो तो प्रसन्नता से रोग की निवृत्ति हो जाती है। हम प्रसन्न रहने के लिये कहीं परतन्त्र नहीं हैं।

एक सेठ जी की कथा है, सेठ जी कुछ दिनों से ज्वर पीड़ित थे उन्होंने एक बन्दर पाल रक्खा था, सेठ जी के पलँग के पास टेबुल पर दवा की शीशी रक्खी थी वह शीशी वैसे तो ऊपर से सुगन्ध दे रही थी पर उसकी औषधि कड़वी थी, पालतू बन्दर ने शीशी उठाकर कार्क खोल ली और दवा शर्बत की तरह पीने लगा सेठ जी उसे प्रायः शर्बत पिलाते थे, इसीलिये उसका अभ्यास पड़ गया था। औषधि मुख में जाते ही इतनी कड़वी लगी कि बन्दर ने क्रोध में आकर शीशी पटक दी उसकी

आवाज़ से सेठ जी का ध्यान बन्दर की ओर गया उसका मुँह कड़ुआहट से इतना विकृत हो गया था जिसे देखकर सेठ जी को इतनी अधिक हँसी आई कि पेट के थक जाने पर भी बड़ी देर तक वे हँसी को न रोक सके, बन्दर के लिये कड़वी दवा का धोखे से शर्बत समझकर पीना, कड़वी लगने पर मुँह बनाते हुये शीशी को पटक देना मालिक की तरफ़ देखना और चिढ़कर दाँत निकालना यही सब हँसी के लिये विलक्षण चित्र था। इस हँसी से सेठ जी का हृदय प्रसन्नता से इतना प्रफुल्लित हुआ कि उसी क्षण उनका ज्वर उतर गया फिर उन्हें दवा नहीं लेनी पड़ी।

जिस प्रकार प्रसन्नता से हर्ष से मुख खिल जाता है उसी प्रकार शरीर के सभी केन्द्रों में, नाड़ियों में, रक्त की गति में सुन्दर प्रभाव पड़ता है; वैसे तो संसार के सभी प्राणी प्रसन्न होते रहते हैं परन्तु तमोगुणी की प्रसन्नता का हर्ष-क्षेत्र और है रजोगुणी एवं सतोगुणी की प्रसन्नता कुछ और ही है।

तमोगुणी तो प्रायः लेकर सञ्चित करके हर्षित होता है, रजोगुणी व्यक्ति प्राप्त का उपभोग करके हर्षित होता है और सतोगुणी व्यक्ति सदा दूसरों को देकर प्रसन्न होता है।

जो दूसरों से लेकर प्रसन्न होता है वह संसार का ऋणी बनता है, जो दूसरों को लिया हुआ देकर प्रसन्न होता है वह संसार के ऋण से मुक्त हो जाता है। दूसरों से कुछ लेकर प्रसन्न होनेवाला व्यक्ति भोगी होता है। दूसरों को देकर प्रसन्न रहनेवाला पुरुष योगी होता है। संसार के संग से भोग और सत्य के संग से योग की सिद्धि होती है।

जब हम प्राप्त सुख तथा सुखद वस्तुएँ दूसरों को देते जाते हैं तब हमें संसार से असंगता प्राप्त होती है और सत्य से अभिन्नता की अनुभूति के लिये अपने को खाली पाते हैं।

संसार हमें नहीं चाहता, वह हमसे उस सुख को या सुख

[व]स्तुओं को चाहता है जो हमने संसार से कभी लिया है। संसार [से] हमने जो कुछ लिया है वह जब तक हम लौटा न देंगे तब तक [सं]सार हमारा पीछा न छोड़ेगा अतः संसार से मुक्त होने का उपाय [य]ही है कि हम जिस प्रकार कभी संसार से कुछ लेकर प्रसन्न हुए [हैं] उसी प्रकार उसे देकर उसे प्रसन्न कर दें। जब हम लिये हुए [स]ुख को सुखद वस्तुओं को दे देंगे उसी क्षण संसार उस सुख को [दे]खकर उसी में तल्लीन हो जायेगा, हमें देखना तथा हमारे पीछे [दौ]ड़ना छोड़ देगा।

संसार से जो कुछ हमने सुख पाया है उसे वापस करके हम अपने हृदय को खाली कर सकते हैं और जब हमारे हृदय में कुछ भी न रहेगा तभी अपने परम प्रेमास्पद को अकेले में पाकर अखण्ड प्रसन्नता के भागी हो सकते हैं।

प्रसन्नता सभी को प्रिय है परन्तु प्रसन्नता कहाँ से प्रस्फुटित होती है इसका ज्ञान सभी को नहीं है इसीलिये जो परमेश्वरीय प्रसन्नता स्वतंत्रता पूर्वक प्राप्त हो सकती है उसी के कारण लोग अपने को परतन्त्र बना लेते हैं।

पवित्र प्रसन्नता वही है जो परमेश्वर की दैवी प्रकृति का आश्रय लेने से आती है। जिस प्रसन्नता के लिये प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्र है वह प्रसन्नता तन मन तथा प्राण को भी निरामय निर्दोष बनाती है।

जो प्रसन्नता किसी वस्तु तथा व्यक्ति का आश्रय लेकर मन में या मुखाकृति में खिलती है वह मोही लोभी अभिमानी प्रकृति में विलीन होती रहती है।

उदासीन चेहरा मनहूस स्वभाव बनाये रहना परमेश्वर की [उ]दार दानी प्रकृति का अनादर करना है। जो प्रकृति के सौन्दर्य को देखने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, सदा प्रसन्न रह सकता है जब तक कि वह प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग न करें।

जितना पुष्प कोमल है उतनी प्रसन्नता भी कोमल है। कोमल

पुष्प बिना किसी को आघात पहुँचाये खिलता है प्रसन्न होत
उसके खिलने, प्रसन्न होने में कभी किसी को ठेस नहीं लगती,
कभी खिला हुआ पुष्प मुरझाये हुए मानव के मुख की काली झु
को मिटाने का मौन प्रयास करता है। वह परिताप से जलती
आँखों में शीतलता के स्निग्ध कम्पन प्रेरित करता है; इसी प्र
दैवी प्रसन्नता को प्राप्त करने वाला-सत्य दर्शी मानव पुष्प के स
निराधार सत्य का, दैवी प्रकृति का दैवी गुणों का आश्रय लेकर प्र
रहता है उसकी प्रसन्नता से किसी को आघात नहीं लगता
आघात से आहत मन वालों के लिये उसकी प्रसन्नता मधुर स
बन जाती है, और स्फूर्तिदायक प्राण प्रदान करती है।

हमें चाहिये कि जो प्रसन्नता पुष्प के समान कोमल होती
वह बहुत ही हलके आघात से कुचली जा सकती है। छिन्न-भि
की जा सकती है उसे कहीं भी आघात न पहुँचाये क्योंकि यह
एक प्रकार की हिन्सा होगी; इस हिन्सा से बचने के लिये हमें इत
ही करना होगा कि अपनी प्रसन्नता का साधन किसी भी व्यक्ति
या पराश्रित वस्तु को न बनायें।

प्रसन्नता और हास्य में भेद है। प्रसन्नता यदि मन्द म
शीतल सर्वप्रिय समीर है (वायु है) तो हास्य तीव्रगतिगामि
वायु है, अट्टहास एक वायु का तूफान है जो अशान्ति लाता
तमाम उखाड़ पछाड़ मचा देता है, उपहास-परिहास एक आँ
है इधर-उधर झक झोरती धक्का देती हुई द्रुतगति से चलती है।

प्रसन्नता में सतोगुण की प्रधानता है, मन्दहास्य में रजोगुण
तटस्थ सतोगुण है, परस्पर मित्रों प्रेमियों के मध्य सम्मिलित हा
में रजोगुण की प्रधानता है। किसी को लक्ष्य बनाकर उपह
परिहास में तमोगुण की प्रधानता है। किसी को तुच्छ नीच ठहरा
हुए अट्टहास, ठहाका मारना यह घोर तमोगुणी चेष्टा है।

यद्यपि हँसने का प्रभाव हमारे स्नायु-जाल (नाड़ियों) पर नथ

पर तत्क्षण पड़ता है परन्तु अधिक बलपूर्वक देरतक हँसने से
तर-स्तर में बल का क्षय भी होता है उसी भाँति से जैसे मर्यादा-
क श्रम करने से शरीर बलवान होता है किन्तु अमर्यादित श्रम
श्रम की क्षमता घट जाती है।

हमें हँसने में मर्यादा का ध्यान रखना चाहिये, हमारे हँसने से
सी को कष्ट न हो किसी प्रकार की वेदना न हो इसका भी
चार रखना चाहिये इसीलिये किसी का उपहास करके व्यंग बोल
के किसी को धोखा देकर के हँसना प्रसन्न होना हिन्सात्मक
है—यह हम ज्ञान प्रकाश में ही जान सके हैं।

हमें अपनी प्रसन्नता का साधन दूसरों को नहीं बनाना है
के दूसरों की प्रसन्नता का साधन स्वयं ही बन जाना है और
रों की उसी प्रसन्नता का पक्ष लेना है जिसमें अपना या दूसरे
सी का अहित न हो।

किसी को दुखी करके प्रसन्न होना हर्षित होना, किसी का
पमान देखकर हर्षित होना, किसी की बुराई सुनकर, किसी की
न्दा करके, किसी को लज्जित करके हर्षित होना विवेकी, शुद्ध
न्तःकरण जिनका हो चुका है—ऐसे महापुरुष उचित नहीं समझते।

संसार में जो कुछ पवित्र है, सुन्दर, निर्लिप्त है मधुर है उसी
देखकर प्रसन्नता होती है, जैसे कि झरना, उपवन, पुष्प, नवजात
शु को देखकर प्रसन्नता होती है।

हमें अपने जीवन में सत्य के तथा असत्य के ज्ञान से प्रसन्नता
ोनी चाहिये, दोषों के त्याग तथा सत्य अनुराग से प्रसन्नता
ी चाहिये; अपने में, सन्तोष, दया, क्षमा कष्टों के प्रति
शीलता, नम्रता, सरलता देखकर प्रसन्न रहना चाहिये। दोष
पने देखकर और गुण भगवान के समझकर प्रसन्न होना चाहिये।

परमेश्वर की निरन्तर दया तथा कृपा का अनुभव करके प्रसन्न
हना चाहिये। भगवान कभी कुछ देकर कभी लेकर कभी अनुकूल

कभी प्रतिकूल परिस्थिति द्वारा हमारा कल्याण ही कर रहे हैं
विचार करके प्रसन्न रहना चाहिये।

सारा संसार हमें छोड़ दे पर परमात्मा हमारा कभी त्याग
कर सकता, उसका कभी दीवाला नहीं निकल सकता, वह व
रोगी, दोषी नहीं हो सकता, उसका कभी विनाश नहीं हो स
ऐसा समझकर सदा प्रसन्न रहना चाहिये।

दूसरे किसी को दुख दिये विना अहित किये विना जो मा
प्रसन्न रह सकता है अवश्य ही वह पवित्र हृदय का सद विवे
व्यक्ति है। प्रसन्नता का सम्बन्ध पवित्रता से स्वाधीनता से अ
दैवी सम्पत्ति से और परमानन्द परमात्मा से है। इस प्रकार
प्रसन्नता आस्तिक में ही पाई जाती है। आस्तिक की प्रसन्
प्रकृति तथा परमेश्वर का आश्रय लेकर होती है, नास्तिक
प्रसन्नता केवल प्रकृति की वस्तुओं तथा व्यक्तियों पर निर्भर रह
है। आस्तिक की प्रसन्नता अखण्ड है और नास्तिक की प्रसन्न
खण्ड वाली होती है।

अखण्ड प्रसन्नता अखण्ड सत्य में निर्भर होकर रहने का
अखण्ड ज्ञान का तथा सत्य परमात्मा के प्रति अखण्ड प्रेम
परिचय देती है।

सांसारिक लाभ से संयोग से, सन्मान से तज्जनित सुखों
हर्षित होने वाला व्यक्ति अवश्य ही कहीं रागी बनता है और अ
कूलता में बाधा देख कर द्वेषी बनता है। जहाँ तक राग द्वेष है व
तक मनुष्य का अन्तः करण पवित्र नहीं कहा जा सकता और व
अखण्ड प्रसन्नता को भी नहीं प्राप्त कर पाता।

प्रसन्नता हमारे सत्स्वरूप की मुस्कयान है जब हम सत्स्वरू
विमुख होकर जगत दृश्य का महत्व बढ़ा देते हैं तब हमारे नि
स्वरूप से निःसृत (बहती हुई) प्रसन्नता अविवेक वश दूसरी वस्तु
व्यक्तियों से आती हुई प्रतीत होती है; तभी हम स्वरूप की महि

भूलकर वस्तु व्यक्ति को सुन्दर मान कर मोहित होते हैं, उसके योग लाभ से प्रसन्न होते हैं और वियोग से दुखी हो जाते हैं। यदि हम असत्य को जान लें और अपने से भिन्न का आश्रय न तो सदा प्रसन्न रह सकते हैं।

प्रसन्नता केवल सत्याश्रित है वह हर्ष विषाद से अतीत है। भगवान मर्यादा पुरुषोत्तम राम जब अपने राज्याभिषेक का समाचार सुनते हैं तब उनकी अनुपम नित्य प्रसन्न मुखाकृति में हर्ष की रेखायें नहीं छिटकीं और जब वन-वास की बात सुनते हैं तब उनका मुख विषाद से म्लान नहीं हुआ वह मुख कान्ति हम सबका मंगल करें इसी को भगवत प्रसाद कहते हैं।

भगवत प्रसाद का अर्थात् इस निर्मल प्रसन्नता का अधिकारी वही होता है जो संसार से कुछ नहीं चाहता। इस स्वतंत्र प्रसन्नता के योग के लिये इन्द्रिय जय मनोजय परमावश्यक है। इन्द्रिय व्यापार अथवा विषयासक्ति से ही राग द्वेष उत्पन्न होते हैं। रागी, द्वेषी हर्ष शोक के द्वन्द्व से मुक्त नहीं हो पाता।

मानव के अनेकों दुःख मन की मलिनता के ही कारण है जिसका अन्तः करण निर्मल है वहाँ तो दुःख भी सुख रूप हो जाते हैं वहीं निरपेक्ष प्रसन्नता निरावरण रूप से प्रत्येक परिस्थिति में दिखाई देती है।

सन्त का वचन है कि दुःखहारी हरि दुखी पर दया करते हैं और प्रसन्नता में निवास करते हैं।

प्रसन्नता किसी को अप्रिय नहीं है हर्ष हास्य विनोद प्रायः दुखी अप्रिय हो सकता है पर प्रसन्नता सभी को प्रिय है।

हम यदि प्रतिकूलता की वेदना को दुःख को मस्तिस्क में पहुँचने दें तो हम निरन्तर प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता का आस्वादन कर सकते हैं। प्रसन्नता भगवान की कृपा से सबको नित्य सहज

ही प्राप्त है परन्तु उसका अनुभव आस्तिक को, भक्त को ह
सकता है।

जिस प्रसन्नता के योग में परमेश्वर की कृपा काम करत
जिसके योग के लिये हम सदा स्वतन्त्र हैं फिर भी जिन कु
से हम पवित्र प्रसाद स्वरूप प्रसन्नता से वञ्चित हो जाते ह
हट जाते हैं और खिन्नता, उदासीनता, पश्चाताप, शो
घिर जाते हैं, उन्हीं कुकृत्यों से भूलों से अपने को बचाते रहन

हमें ज्ञान प्रकाश में ही ज्ञात हो सका कि जो अमर्यादित
विपरीत श्रम करता है, जो मुफ़्त में दूसरे की वस्तु लेता है
अपने सुख के लिये दूसरों को दुख देता है, जो दूसरों का अ
करता है, जो व्यर्थ विवाद करता है, बहुत अधिक सम्भाषण क
है किसी से वैर विद्रोह करता है, जो क्रोध करता कठोरता, घ
पूर्वक किसी से व्यवहार करता है, जो चोरी करता है, जो व्यभि
होता है, जो अमर्यादित स्त्री सहवास करता है, जो दूसरों
अनिष्ट चाहता है, जो दुर्व्यसनी होता है, दुर्जनों का संग क
है जो दूसरों का अन्न मुफ़्त ही बिना कुछ श्रम किये ही खात
जो गरिष्ठ भोजन करता है, जो बिना उद्यम के व्यर्थ समय र
है जो बैठे बैठे दूसरों से सेवायें लेता रहता है वही पवित्र प्रस
के योगस्थल से दूर हट जाता है; वही परमेश्वर की कृपा से वि
रहता है।

यदि हम भगवान को नित्य सहज कृपा का अनुभव करके अ
तथा चिन्ता मुक्त और निरन्तर प्रसन्न रहना चाहते हैं तो
नित्य ही विधिपूर्वक श्रम करना चाहिये इन्द्रियों को स्ववश र
चाहिये मन संयमी होना चाहिये, दोषों का त्याग करना
छोटों को प्यार, बड़ों के प्रति पूज्य भाव रखते हुए सबको मान
चाहिये, सत्य एवं प्रिय भाषण करना चाहिये, दुखी पर विन
पूर्वक दया करना चाहिये और अपने पास जो कुछ भी ह

सुन्दर, पवित्र शक्ति, सम्पति है उसका सुपात्रों को दान देना चाहिये, अभाव-पीड़ितों की सहायता सेवा करना चाहिये, प्राकृतिक सौन्दर्य का दर्शन करते हुए परमेश्वर की महिमा का तथा प्रकृति की उदारता का मनन करना चाहिये, अज्ञानवश जो कोई भूल करे उसे क्षमा करना चाहिये, भगवान का स्मरण, चिन्तन करना चाहिये, भगवद् तत्व का तथा परमात्मा के और अपने सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, सत्संग करते रहना चाहिये, सन्त सदगुरू के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा रखनी चाहिये, धर्म-शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये और आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहिये—यही सब अखण्ड प्रसन्नता के परमधाम में प्रवेश करने का साधन है।

> रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
> आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधि गच्छति ॥ २-६४ गी.

परन्तु स्वाधीन अन्तःकरण वाला पुरुष राग द्वेष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

> प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
> प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिःपर्यवतिष्ठते ॥ २-६५ गी.

'उस प्रसन्नता के होने पर इसके सम्पूर्ण दुखों का अभाव हो जाता है। और उस प्रसन्न चित्त वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र अच्छी प्रकार स्थिर हो जाती है।'

हम सबको चाहिये कि अखण्ड प्रसन्न रहने का स्वभाव बना कर उसे सांसारिक हर्ष हास्य से कहीं न दबने दें। उसी हर्ष का हास्य का स्थान दें जिससे किसी को दुख अशान्ति न होती हो।